वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

4000
क्रम संख्या
काल नं० 232 शिखर
खण्ड

मुद्रक :—
[illegible] प्रेस लि०,
[illegible]

॥ श्रीः ॥

श्रीवर्द्धमानाय नमः

सोनगढ़ से सम्बंधित

समाधानचन्द्रिका

लेखक

श्रीमान् पं० शिखरचन्द्र जी शास्त्री ईशरी (हजारीबाग)

सम्पादक

श्रीमान् पं० शिवजी राम जी जैन पाठक राँची

प्रकाशक

मांगीलाल कन्हैयालाल जैन (हजारीबाग)

प्रथम बार १०००	पौष सं० २०१४	मूल्य सदुव्यवहार

सम्पादकीय वक्तव्य

गतवर्ष सोनगढ़ से श्रीकानजी महाराज बम्बई इंदौर फीरोजाबाद कानपुर बनारस आदि में घूमते हुए संघ सहित श्री सम्मेदशिखर जी एवं ईशरी भी पधारे थे, उस समय तक बहुभाग समाज को यह आशा हो गई थी, की पूज्य वर्णी १०५ श्री गणेश प्रसाद जी एव श्री कान जी महाराज के सुवर्णमयसुयोग में तत्त्वनिर्णय हो जायगा। इसी आशा से सारी उपस्थित समाज ने भगीरथ प्रयत्न भी किया, परन्तु श्री कानजी महाराज आशावान् समाज को निराशदशा में ही छोड़कर टाटानगर चितरजन कलकत्ता दिल्ली आदि की शैर करते हुए स्वल्प काल में ही स्वस्थानासीन हो गये। मधुवन के मधुर भाषणों से साधारण जनता उनके प्रभाव मे भावुक न हो जाय और समीचीन दि० जैन सिद्धान्त की अनुयायी बनी रहकर ही आत्मकल्याण करती रहे। इस सद्भावना से प्रेरित कलकत्ता निवासी श्री प० बाबू लाल जी शास्त्री ने पॉच प्रश्न उक्त वर्णीजी महोदय के पास भेजे। परन्तु अस्वस्थता के कारण वे स्वय उत्तर नहीं लिख सके, इसी से श्रीमान् प० शिखर चद्र जी शास्त्री को आदेश दिया कि आप इन का विशद उत्तर लिखो। वर्णीजी की आज्ञानुसार शास्त्री ने यह समाधानचद्रिका लिखकर वर्णी के सामने उपस्थित कर दी। प्रसग वश हमे वर्णी की जी वंदना का सुयोग मिला और वहाँ ही यह आदेश भी मिला कि आप इसको छपा कर जैन समाज के

सामने उपस्थित कर दो। इस आदर्श का संदेश हमने प्रकाशक महोदयों से किया। फलतः उन की सहायता से यह प्रकाश में आसकी। इसकी सफलता तभी समझी जायगी जब कि समाज इसका अनुभव पूर्ण स्वाध्याय करके अपना आत्महित साधन करे। और भ्रान्त विचारों को छोडकर अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार अपने गृहस्थोचित षट्कर्मों के पालन में दत्त चित्त रहे।

विनीत :—

ता० २० १२-५७ शिवजी राम जन पाठक

राँची

लेखक का आद्य निवेदन

कलकत्ता निवासी श्रीमान् पण्डित बाबूलालजी शास्त्री ने पूज्य वर्णी जी के पास पाँच प्रश्न भेजे थे, और वर्णी जी से प्रार्थना की थी कि आप इन प्रश्नों का आगमानुसार उत्तर देकर कृतार्थ करें। परन्तु श्रीवर्णीजी महाराज शारीरिक असमर्थता के कारण स्वयं उत्तर देने की इच्छा रहते हुए भी उत्तर नहीं दे सके। इधर कलकत्ता वालों की अधिक प्रेरणा थी। इस लिये मुझे वर्णीजी ने आज्ञा दी, कि तुम इन प्रश्नों का उत्तर सन्क्षेप मे लिखो तदनुसार जैसा कि मैंने आज तक श्रीवर्णीजी के निकट में श्रवण, पठन और मनन किया है, वैसा ही आगम प्रमाणों के साथ समाधान लिखा है। वस्तुतः यह समाधानचन्द्रिका पूज्य वर्णीजी श्रीगणेशप्रसादजी महाराज की है, जैसा कि अन्त में दिये हुए उनके प्रवचन से स्पष्ट होता है, मैंने तो केवल लिखा मात्र ही है। अतः आशा की जाती है कि जिज्ञासु भव्य जीवों को इसके द्वारा वस्तुस्वरूप को निर्णय करने में यथेष्ट सहायता मिलेगी। और वास्तविक जैन सिद्धान्तों की गहरी छाप शकितवृत्ति का अभाव कर आत्म-कल्याण की प्रेरक होगी।

आत्मगेवषी :—
शिखरचन्द्र जैन ईशरी।

प्रकाशक के दो शब्द

गत आषाढ़ में चिरं महावीरप्रसाद के विवाहार्थ हम डालटनगञ्ज गये थे। वहाँ पर राँची निवासी श्रीमान् पण्डित शिवजीरामजी जैन पाठक ने हमें यह समाधानचन्द्रिका दिखाई, और हमे प्रकाशित करने के लिये प्रेरित किया, तदनुसार हमने इसे प्रकाशित किया है। श्रीमान् पण्डित शिखर चन्द्र जी शास्त्री ईशरी वालों ने इसको लिखकर और उक्त पाठक जी ने इसका सम्पादन करके श्रीकानजी महाराज के अभिभाषणों से दिग्भ्रांत भव्य जीवों को जो जैन आगमानुकूल आत्म कल्याण का मार्ग सुझाया है वह अनुपम और ग्राह्य है। हमें आशा है कि इसको पढकर लोग जैन धर्म के अनेकातसिद्धान्त पर ध्यान पूर्वक दिव्यदृष्टि से शुद्धचैतन्य स्वरूप पर श्रद्धा रखते हुए यथाशक्ति एवं यथावकाश व्यवहार धर्मस्वरूप अपने कर्त्तव्यो पर दृढ़ रहेंगे, ताकि वर्त्तमान अशुद्ध पर्याय से छुटकारा पाकर क्रमश शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाय। हम उक्त विद्वानो के हृदय से आभारी हैं कि इनकी कृपा से हम अपने कर्त्तव्य मे कुछ सफल हुए हैं।

हजारीबाग
ता० २० -१२ ५७ } मांगीलाल कन्हैयालाल जैन।

पूज्य १०५ श्री क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी (ईसरी)

समर्पण

श्रीवीर सन्मतिं नत्वा गुरुवर्णिप्रकाशिता ॥
व्यक्ता शिखरचन्द्रेण सुसमाधानचन्द्रिका ॥

श्री १०५ पूज्य गुरुवर्य श्रीगणेशप्रसादजी क्षुल्लक के द्वारा मैंने दो अक्षरों का सुबोध प्राप्त किया है, उस गुरुऋण को चुकाने में अपने को असमर्थ पाकर मैं इस पुस्तिका के रूप में श्री गुरुदेव के करकमलों में अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पण करता हूँ।

पो० ईशरी बाजार (हजारीबाग)
आषाढ़ी गुरु पूर्णिमा
संवत् २०१४

श्रद्धावनत चरण चञ्चरीक
शिखरचन्द्र जैन।

श्री पण्डित शिखरचन्द्र जी ने उपादान निमित्तादि के ऊपर सप्रमाण लेख लिखा है। आशा है कि विद्वद्वर्ग इस पर विचार कर अपनी सम्मति लिखेंगे।

—गणेश वर्णी।

श्रीवीतरागाय: नमः

वामानंदन कल्पतरु जयो जगत हितकार ॥
मुनिजन जाकी आश करि जाचें शिवफल सार ॥१॥

प्रथम प्रश्नः—सोनगढ़ के प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें भाग २ में पृष्ठ २२ पर यह लिखा है कि "कर्म के कारण विकार होता है—ऐसा जो मानता है, वह मिथ्या दृष्टि है। वह वस्तु के परिणमन स्वभाव को नहीं जानता है"। तथा पत्र २५ पर लिखा है कि "रागादिभाव तू स्वतन्त्र करे तो होते हैं किन्तु कर्म के कारण नहीं होते"। पत्र २६ पर लिखते हैं कि 'जो ऐसा मानता है कि कर्म के निमित्त से विकार होता है, वह निश्चय और व्यवहार दोनों का आभासी है"। एव हिन्दी आत्मधर्म न० १३८ टाइटिल पेज ३ पर चरित्र पाहुड़गाथा ५ के प्रवचन मे लिखा है कि "कहीं ऐसा नियम नही है, कि जितने प्रमाण में कर्मों का उदय हो, उतने ही प्रमाण मे डिगरी टू डिगरी विकार हो। अतः उदयानुसार विकार होता है—यह मान्यता बिलकुल विपरीत है"।

क्या उपर्युक्त अभिप्राय आगमानुकूल है? कर्मोदय व विकारी भावों में क्या सम्बन्ध है?

समाधानः—इस प्रश्न पर विचार करते हुये यह सोचना है कि आत्मा स्वतंत्र होकर रागादि करता है या अन्य कारण है?

विकार को जो ऐसा मानते हैं, कि वह अपने आप होता है। इस प्रकार की मान्यता में यह सिद्ध करना कैसे बनेगा कि वह इस परिमाण (तीव्र मंद आदि) में इस शुभ अशुभ सुख दुख आदि के फल वाला होता है? यह तो निर्विवाद है कि रागद्वेषादि भाव तरतमरूप से हैं। एक प्रकार के नहीं। तथा इन्हें विकार ही सर्वत्र कहा है। कही भी इनका स्वभावरूप से कथन नहीं मिलता है। क्योंकि स्वभाव मे तरतमता नहीं होती है। विकार को जीव स्वतंत्र होकर नहीं करता है— ऐसा आगम में प्रश्न उठाकर उत्तर दिया गया है—

रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्ध चिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः।

कलश १७४ समयसार बंध०

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ॥
रंगिज्जदि अण्णेहिं दुसो रत्तादिएहिं दव्वेहिं । २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहि ॥
राइज्जदि अण्णेहि दुसो रागादीहिं दोसेहि ॥२७९॥ समयसार

कलश अर्थः—रागादिको बध का कारण कहा है और उन्हे शुद्ध चैतन्यमात्र ज्योति से (आत्मा से) भिन्न कहा है, तब प्रश्न होता है कि उस रागादिका निमित्त आत्मा है या कोई अन्य? इस प्रश्न से प्रेरित होते हुये आचार्य भगवान इस प्रकार कहते हैं। ॥१७४॥

गाथा–अर्थः—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध होने से रागादि रूप से (ललाई आदि रूप से) अपने आप परिणमता नही परन्तु अन्य रक्तादि द्रव्यों से वह रक्त (लाल) आदि किया जाता है। उसी

प्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्माशुद्ध होने से रागादिरूप अपने आप परिणमता नहीं है परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागी आदि किया जाता है। २७८—२७९ ॥

इस प्रकार जीव को स्वतंत्र होकर कर्ता मानने में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाणों से विरोध आता है।

यदि रागादि होने में कोई कारण है तो क्या भगवान के ज्ञान का प्रतिभास है या स्वय द्रव्य है या उसी द्रव्य के अन्य गुण, अथवा द्रव्यकर्म ? भगवान के ज्ञान का प्रतिभास कारण कहें तो यह कहना ठीक नहीं है क्यों कि ज्ञान का ज्ञेय (अन्य द्रव्य, गुण, पर्याय-विकार आदि) के साथ ज्ञेयज्ञायकसबध है कारण कार्य सबंध नहीं हैं। रागादि के जो तरतम भाव होता है, अब उसी को देखना है कि उस समय आत्मा में भगवान के ज्ञान के प्रतिभास के अनुसार जो रागादि हुवे—तो क्या वे भगवान के ज्ञानके प्रतिभास मे तरतम रूप से आये,सो यहाँ भी हमारी संसारी आत्मा मे रागादि तरतम होगये। यदि ऐसा माना जावे तो रागादिका तरतमभावरूप भगवान के ज्ञान के आधीन हो जावेगा। और भगवान के ज्ञान के प्रतिभास के निमित्त कर्त्तापने का प्रसग आ जावेगा।

यदि स्वय द्रव्य को रागादि कारण का माना जावे तो स्वय आत्मा अपने चारित्रगुण का घातक बन जावेगा। द्रव्य स्वय भाव का घातक होता नहीं है।

यदि रागादि उत्पन्न होने में आत्मा के अन्यगुणों को कारण माने तो यह पक्ष भी नहीं बनता,क्यों कि एक गुण दूसरे गुण का उत्पादक या घातक नहीं होता। यदि एक गुण दूसरे गुणों का घातक हो तो वस्तु का अभाव हो जावेगा।

द्रव्यकर्म रागादि का कारण है यह बात उपर्युक्त कथन से स्वयं सिद्ध हो जाती है फिर भी उसका खुलासा इस प्रकार है :—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ॥
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥ समयसार कलश

अर्थः—श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्य देव कहते हैं कि इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रन्थ) की व्याख्या (टीका) से ही मेरी अनुभूति की अर्थात् अनुभवनरूप परिणति की परमविशुद्धि (समस्त रागादि विभाव परिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता) हो। । यह मेरी परिणति, परपरिणति का कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके अनुभव से (उदयरूप विपाक से) जो अनुभाव्य (रागादिपारिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरन्तर कल्माषित (मैली) है और मैं द्रव्यदृष्टि से शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ।

इस कलश में मोह कर्म को रागादि परिणति का कारण बताया है। इसी प्रकार कथन करनेवाली समयसार मे २८२ गाथा आदि हैं।

जैसे अभी राग की उत्पत्ति का विचार किया उसी प्रकार वीतरागता पर्याय के प्रतिबंधक का भी विचार करते हैं।

क्या वीतरागता का प्रतिबंधक अपना द्रव्य ही है या अपने गुण या अन्य कोई।

यदि वीतरागता रूप पर्याय का आवारक (प्रतिबंधक) अपना द्रव्य ही माना जावे तो राग का भी प्रतिबंधक उसी समय अपना द्रव्य हो जावे, अपना द्रव्य अपने स्वभाव के लिये प्रतिबंधक हो—ऐसा तो कहीं सिद्धान्त ही नहीं है। नहीं तो कोई भी द्रव्य सत् रूप नहीं ठहर सकता।

तब वीत्तरागता का प्रतिबंधक अपनी आत्मा के अन्य गुणों को कहा जाय जैसे ज्ञानादि, तब भी विवाद उपस्थित होता है कि वे ज्ञानादि गुण कैसे दूसरे गुण के बाधक हो सकते हैं? नहीं हो सकते। इसलिये अन्य कोई द्रव्यकर्म कारण ही बाधक ठहरता है।

दो विरोधी (राग और वीतराग) बाते एक साथ देखी नहीं जातीं। रागादि के अभाव से वीतरागता होती है। जैसे-जैसे रागादि क्षीण होते हैं, वैसे-वैसे वीतरागभाव होते हैं। जैसे-जैसे प्रमाण में वीतरागभाव होते हैं, वैसे-वैसे रागादिका अभाव परिचय में आता है। इस प्रकार अन्वय (उत्पाद) और व्यतिरेक (प्रतिबध) दृष्टि द्वारा कथन किया है। इस कथन से द्रव्यकर्म को ही कार्यकारणपना सिद्ध होता है। कहा भी है:—
अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः।

जब वस्तु को आश्रयकर अध्यवसान होते देखे जाते हैं, तब द्रव्यकर्म को रागादि होने मे निमित्त न मानना कितनी बड़ी भारी भूल है।

दृष्टान्त—जैसे थर्मामीटर मे डिगरी शरीर की गर्मी को सूचित करती है। यदि शरीर की गर्मी निमित्त न होती तो हम उसको गर्मी का मापक ही कैसे कहते? तथा डिग्री के

हीनाधिकपना से गर्मी का हीनाधिकपना भी क्योंकर मानते ? तथा उपचार भी थर्मामीटरका न कर शरीरका ही क्यों करते ? इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि विकार के होने में कारण कोई पर ही है उस पर का नाम द्रव्यकर्म है। पर के प्रभाव का कथन समयसार में इस प्रकार है:—

टीका—उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तु स्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वंतरभूतमोह-युक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः। स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोऽपि प्रभवन् दृष्टः। यथा हि—स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूप परिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमाल कदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्या दर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वात् मिथ्या दर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारोदृष्टव्यः

भावार्थ :—आत्मा के उपयोग में यह तीन प्रकार का परिणाम विकार अनादिकर्म के निमित्त से है। ऐसा नहीं है कि यह पहले शुद्ध ही था, अब इसमें नया परिणाम विकार हो गया है। यदि ऐसा हो तो सिद्धों के भी नया परिणाम विकार होना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि वह अनादि से ही है।

ऊपर के रेखाङ्कित पदों से स्पष्ट हो गया कि परनिमित्त का तथा परके प्रभाव का कथन कितना सत्य है। अतः उस द्रव्यकर्म की पड़ी हुई अनुभागशक्ति के तरतम उदय से विकार में तारतम्य मानना ही सम्यग्दृष्टिपना है। जो द्रव्यकर्म को कारण नहीं मानता है, वही मिथ्यादृष्टि है।

यदि द्रव्यकर्म को न मानें तो सुखदुःख का दाता कौन बनेगा ? आत्मा ने जिस समय शुभ अशुभ भाव किये, तब वे तो दूसरे समय में नष्ट हो गये, अब आत्मा में बंध कैसे बना ? तथा आगामी तारतम्यरूप फलकी व्यवस्था भी कैसे बनी ? ऐसा है नहीं कि तत्काल के शुभाशुभ भाव ही आत्मा में आत्मा के लिये आगामी सुखदुःख के कारण हो जांय।

समयसार के बंधाधिकार में साता असाता कर्म को सुख दुःख का कारण कहा है। तथा आयुकर्म के उदय और आयुकर्म के क्षयको जीवन मरण का कारण कहा है। इसके लिये गाथा २४७ से २६१ तक देखें। सब का निचोड़ (सारांश) इस कलश में कह दिया है।

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥
अज्ञानमेतदिह यत्तुपरः परस्य।
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥१६८॥

इस कलश में अपने कर्मोदय से सुखदुःखादि मानना (मिथ्यात्व) नहीं बताया, प्रत्युत नियत अर्थात् निश्चय (सम्यक्त्व) बताया है।

अन्य दृष्टान्त :—एक दृष्टान्त इसी विषय में याद आ गया है

कि वक्ता अपने अभिप्राय को वचनों से प्रकट करता है। और वे वचन रिकार्ड मशीन में रिकार्ड (अङ्कित) हो जाते हैं। जैसे तीव्र मंद कण्ठ तालु ओष्ठ जिह्वादि के संबंध से निकले वचन होते हैं वैसे ही मशीन में आ जाते हैं और वे फिर सुने जा सकते हैं परन्तु मशीन के अभाव में वे वचन नहीं पकड़े जाने से नष्ट हो जाते हैं तथा आगामी भी श्रवण नहीं किये जा सकते। उस मशीन के रिकार्ड से वक्ता को अपने वचन फिर स्वीकार करने पड़ते हैं कि हां मैंने ऐसे कहे हैं। अब दार्ष्टान्त पर ध्यान दीजिये।

इसी प्रकार द्रव्यकर्म हैं। द्रव्यकर्म में तीव्र मंदादि रागादि होने के समय में ही स्थिति अनुभाग पड़ जाता है। और वे अनुभाग युक्त द्रव्यकर्म जिस प्रमाण के होते हैं वैसे ही अपना फल देते हैं। यद्यपि मशीन वक्ता से भिन्न है तथापि वक्ता के पूर्व वचनों को निर्देशक है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म भिन्न होते हुवे भी एक क्षेत्रावगाह रूप से स्थित हैं और वे ही आत्मा के विकार के उत्पादक हैं।

समयसार गाथा २०४ निर्जरा अधिकार की टीका मे यही कहा है और तारतम्य की सिद्धि का भी प्रमाण यहां एक पुष्कल है। तथाहि:—यथात्र सवितुर्घनपटलावगुण्ठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासदयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिंदंति। तथा-आत्मनः कर्मपटलोदयावगुण्ठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिन्द्युः। किन्तु प्रत्युत तमभिनन्देयुः।

संसार की उत्पत्ति और उसके निरोध को समयसार के संवर अधिकार गाथा १९०-१९१-१९२ में इस प्रकार बताया है:—

तेसिं हेऊ भणिया अज्झवसाणानि सव्वदरिसोहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥
हेउ अभावे णियमा जायइ णाणिस्स आसवणिरोहो ॥
आसवभावेण विना जायइ कम्मस्स वि णिरोहो ॥१९१॥
कम्मस्स अभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ॥
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होई ॥१९२॥

टीकाः—संति तावज्जीवस्य आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि । तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः । आस्रवभावः कर्महेतुः । कर्म नोकर्महेतुः। नोकर्म संसारहेतुः इति। ततो नित्यमेवायमात्मा आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति। ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति । ततः कर्म आस्रवति । ततो नोकर्म भवति । ततः ससारः प्रभवति । यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धचैतन्यचमत्कार मात्रमात्मानमुपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानविरतियोग-लक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः । तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः। तदभावे भवति कर्माभावः । तदभावे भवति नोकर्माभावः। तद

भावे हि भवति संसाराभाव: । इत्येष संवरक्रमः ।

अब देखिये निमित्तनैमित्तिकभाव की सिद्धि में प्रमाणः—

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ॥
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणो वि ॥२८१॥
रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ॥
तेहिं दु परिणमतो रायाई बंधदे चेदा ॥२८२॥

समयसार बंधाधिकार ।

टीकाः—यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव । तत कर्मविपाकप्रभवै रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः ॥२८१॥
य इमे किलाज्ञानिन पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेषमोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बंधहेतुरिति ॥२८२॥

इत्यादि प्रमाणों से समयसारादि सब ग्रंथ यही भाव सूचित करते हैं कि कर्म के कारण विकार होता है। रागादि विभाव आत्मा मे हुवे है। आत्मा को छोड़ अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते। परन्तु आत्मा का सब अवस्थाओंमें नहीं पाये जाते अतः रागादि असाधारण भी नहीं है। इसलिये द्रव्यकर्मसे भावकर्मका निमित्तनैमित्तिक सबधहै। ऐसा मानना मिथ्यादृष्टिपना नहीं है। कितु सम्यक्त्व है।

ऐसे द्रव्यकर्म के मानने से ही जैनागमों में ईश्वरके कर्त्तृत्व का खंडन किया है। अन्यमतवालों ने ईश्वर को सदामुक्त

निमित्तकर्ता मानाहै। उसके निषेधका कथन स्पष्टहै। अन्यथा ईश्वर के इच्छा, शरीर तथा प्रयत्नादि मानने पड़ेंगे। इस तरह का ईश्वर स्वीकार नहीं किया गया है। अत. जैनशास्त्रों में ईश्वर के बजाय द्रव्यकर्म को सृष्टि का कारण माना है। जैसा कि उपर्युक्त गाथावों के कथन से स्पष्ट है।

अन्यथा द्रव्यकर्म के अभाव में आत्मा को पूर्ण विकास स्वरूप स्वतत्र कहना पड़ेगा। संसार में आत्मा की विकार रूप परिणति परके सबध से ही होती है। अकेला द्रव्य विकृत नहीं होता है। जैसे नेत्र में कम दीखने से या अन्यथा दीखने से अथवा न दीखने से विकार का निश्चय होता है। उस विकार के कारण अतरग बहिरग दोनों होते हैं। अतरंग तो आत्मा का परिणमन है तथा कर्म का उदय है तथा बहिरङ्ग उपकरणादि के दोष हैं।

आवार्य—आवारकपने की सिद्धि

इस तरह आत्मा की पर्यायों को आवार्य और द्रव्यकर्मों को आवारक मानना चाहिये। कर्म के उदय का निमित्त न मानने पर आगम आज्ञा का लोप का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। समयसार मे भाव्यभावक सकर दोप के परिहार से जितमोह शब्द से स्तुति गाथा ३२ में की हैं— उसमें पहले भाव्यभावक का स्वरूप कहा है और फिर भेदविज्ञान के बल से भाव्यभावक का परिहार बताया है। देखो गाथा ३२ की टीका:—

यो हि नाम फलदान समर्थतया **प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंत-मपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्त्तनेन**

हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभाव भाविभ्यःसर्वेभ्यो भावांतरेभ्यः परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः ॥३२॥

अर्थ — मोह कर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रगट उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होता है तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा भाव्य उसको भेद ज्ञान के बल द्वारा दूर से ही अलग करने से इस प्रकार बलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके समस्त भाव्यभावक संकरदोष दूर हो जाने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण (निश्चल) ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों के स्वभावों से होनेवाले सर्व अन्य भावों से परमार्थतया भिन्न अपने आत्मा को जो अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितमोह जिन हैं।

भावार्थ :— भावक मोह कर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने से अपना आत्मा भाव्यरूप होता है, उस (भाव्य—रागादि) को भेदज्ञान के बल से भिन्न अनुभव करनेवाले जितमोह जिन हैं। यहां ऐसा आशय है कि श्रेणी चढते हुये जिसे मोह का उदय अनुभव मे न रहे और जो अपने बल से उपशमादि करके आत्मनुभव करता है उसे जितमोह कहा है॥

श्रीअमृतचंद्र जी सूरि ने भावक मोह कर्म तथा भाव्य रागादि को प्रगट स्पष्ट कर दिया है और उपशम क्षय रूप जीतने का वर्णन किया है। इससे ही आवार्य आवारकपने की भी सिद्धि हो जाती है। ऐसी आगम की आज्ञा की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। अतः विकार के होने में कारण द्रव्यकर्म तथा अन्य बाह्य पदार्थों को स्वीकार करना चाहिये। वस्तु की सीमा में वस्तु का परिणमन है तथापि सोपाधि होने से आत्मा का त्रिविध प्रकार का परिणमन हो जाता है। यहां उपाधि का अर्थ द्रव्यकर्म सिवाय दूसरा हो ही नहीं सकता। देखो समयसार कर्ताकर्म अधिकार।

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ॥
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥

इस गाथा में उपाधि के स्थान पर अजन शब्द का प्रयोग किया है।

दृष्टान्त—दार्ष्टान्त

जैसे कांच में पीछे मसाला की उपाधि लगी रहने से मुख दीखता है। नहीं तो कुछ न दीखै। इसी तरह आत्मा में कर्मों की उपाधि लगी है सो सांजन होने से नाना प्रकार विकार भावों को प्राप्त होता है। इससे द्रव्यकर्म की सिद्धि होती है।

सो समयसार के कथन को प्रमाण मानने वालातो (अध्यवसानादिभावनिर्वर्त्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति सकलज्ञज्ञप्तिः। तस्य तु यद्विपाककाष्ठा-मधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते इत्यादि गाथा ४५ की टीका

देखो) मिथ्या दृष्टि हो और विकार को अहेतुक मानने वाला सम्यग्दृष्टि हो यह बात हमारी तो समझ में नहीं आती। केवल शुद्ध उपादान को ही न देखना चाहिये। कर्म को कारण न मानने से मतिज्ञान के तथा श्रुतज्ञान के आवांतर भेद नहीं सिद्ध होंगे।

मतिज्ञानादि के भेदों के कारण

श्री अकलङ्कदेव राजवार्त्तिक में ऐसा लिखते हैं :—

कारणनानात्वात्कार्यनानात्वसिद्धेः। यथा मृत्तंतुकारणभेदात् घटपटकार्यभेदस्तथा दर्शनज्ञानावरणक्षयोपशमकारणभेदात् तत्कार्यदर्शनज्ञानभेद इति ।..... तदावरणकर्मक्षयोपशमविकल्पात् प्रत्येकमवग्रहादि ज्ञानावरणभेद इष्यते । कथं ? ज्ञानावरणमूलप्रकृतेः पंचोत्तरप्रकृतयस्तासामप्युत्तरोत्तराः प्रकृतिविशेषाः संति। ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः असंख्येयलोकाः इतिवचनात् ॥

अध्याय १ सूत्र १५ की वार्तिक १४

इसी प्रकार प्रथम अध्याय सूत्र २० की वार्तिक ४-५ की व्याख्या भी देख लेना चाहिये। रागादि दोषों की उत्पत्ति में अन्य आगमप्रमाण :—

दोषावरणयोर्हानिर्निशेषास्त्यतिशायनात् ॥

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥ आप्तमीमांसा ॥

टीका:-कः पुनर्दोषो नामावरणाद् भिन्नस्वभावः इति चेदुच्यते।

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरिणामहेतुः । न हि दोष एवावारणमिति प्रतिपादने कारिकाया दोषावरणयोरिति-द्विवचनं समर्थम् । ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात् पौद्गलिक-ज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते । तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च । स्वपरि-णामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तं तस्य कादाचित्कत्वविरोधा-ज्जीवत्वादिवत् । परपरिणामहेतुक एवेत्यपि न व्यवतिष्ठते मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसंगात् । सर्वस्य कार्यस्योपादानसह-कारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च । तथा च दोषो जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुकः कार्यत्वान्माषपाकवत् । नन्वेवं निश्शेषावरणहानौ दोषहानेः सामर्थ्यसिद्धत्वाद्दोष-हानौ वावरणहानेरन्यतरहानिरेव निश्शेषतः साध्येति चेन्न, दोषावरणयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यकार्य कारणभावज्ञापनार्थत्वादुभयहानेर्निश्शेषत्वसाधनस्य । दोषो हि तावदज्ञानं ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्यात् । अदर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य विविधमचारित्रमनेक प्रकारचारित्रमोहस्य, अदानशीलत्वादिर्दानाद्यन्तरायस्येति । तथा ज्ञानदर्शनावरणे तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासा-दनोपघातेभ्यो जीवमास्रवतः । केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवा दाद्दर्शनमोहः, कषायोदयात्तीव्रपरिणामाच्चारित्रमोहः विघ्न-करणादन्तराय इति तत्त्वार्थे प्ररूपणात् । समर्थयिष्यते

चायं कार्यकारणभावो दोषावरणयोः "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः" इत्यत्र ॥

ऐसा श्रीविद्यानन्दस्वामी ने अष्टसहस्री पृष्ठ ५१ पर उपर्युक्त ४ कारिका की व्याख्या में लिखा है। इससे श्री अकलङ्कदेव भी सहमत हैं। अर्थ सरल होने से एवं विस्तार भय से नहीं लिखा है। इस कथन में रागादि दोष सहेतुक ही सिद्ध किये हैं।

अहेतुक या योग्यता मानने में आपत्ति

सम्यग्दर्शन जब उत्पन्न हो गया, तो उसी समय पूर्ण सम्यग्ज्ञान तथा पूर्ण सम्यग्चारित्र भी होना चाहिये। क्यों कि आत्मा तो स्वतन्त्र है, कोई बाधक-प्रतिबधक तो है ही नहीं। केवल अपनी योग्यता कहने से भी काम नहीं चलता। यदि योग्यता ही काम कर देती तो जब सम्यग्ज्ञान की योग्यता हुई तभी पूर्ण ज्ञान व चारित्र की योग्यता हो जावे। रत्नत्रय एक साथ होते हैं, फिर आगे समय की अपेक्षा क्यों रहती है। क्रमबद्ध पर्याय का भी खण्डन इसी से होजाता है, कि जब सम्यग्दर्शन के साथ अपूर्ण ज्ञान चारित्र क्यों सम्यक् कहलाये। सम्यग्दर्शन के साहचर्य से उनका नाम सम्यक् क्यों पड़ा।

अब योग्यता क्या चीज रही। आत्मा तो भव्य है रत्नत्रय का पात्र है स्वय सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिये। फिर सम्यग्दर्शन होने के लिये देशनालब्धि की क्या आवश्यकता रही। विशुद्धि का अर्थात् कषायमदता की भी क्या जरूरत है। कषाय पर्याय अलग है, सम्यक्त्व पर्याय अलग है। परन्तु आचार्यों ने देशना के पहिले विशुद्धि को लिखा है।

इससे कार्यकारण भाव की सिद्धि हो जाती है। ऐसे ही द्रव्यकर्म और विकार में भी कार्यकारण भाव लगा लेना चाहिये।

आवान्तर प्रश्न का समाधान

यदि यह जीव रागादि भावों को स्वतंत्र करता है जैसे ज्ञानादि को करता है तो रागादिको यह जीव क्यों करता है? क्या यह उसकी क्रीड़ा है, या स्वभाव है, या परोपकार के लिये करता है? ये तीनों ही बातें इस आत्मा के नहीं बनती हैं। परोपकार तो स्वतन्त्रता में कोई चीज ही नहीं है। परोपकार बनता भी नहीं है। एक आत्मा दूसरे का कुछ करती नहीं है। क्रीडा कौतुक मानने से सिद्ध होता है कि पहले आत्मा दुःखी था, तभी तो रागादि क्रीड़ा सूझी। इससे स्वतंत्रता का घात होता है। राग से सुखी होना चाहिये। सुखी होता नहीं है—राग को आग कहा है:—

यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिरभजे विषय कषाय अब तो त्याग निजपद वेइये॥
अतः आत्मा का क्रीडा कौतुक रूप राग नहीं बनता।

यदि रागादि स्वभाव हैं तो इन्हें हेय क्यों कहे। इन बातों से पता लगता है कि सम्यग्दृष्टि जीव जब राग को हेय मानता है, राग को आत्मा नहीं मानता है, उसके वीतराग स्वभाव की श्रद्धा है। स्वानुभव को कर रहा है। फिर राग की कणिका उस समय कहां से आ जाती है। यदि द्रव्यकर्म को कारण न मानें, और ज्ञान को ज्ञान रखना यही इस आत्माका स्वतंत्रपना कहा जाय तो स्वानुभव के समय पूर्ण स्वतंत्रपना-सिद्धपना मानना अनिवार्य बलात् आकर उपस्थित हो जावेगा।

कर्मोदय की सिद्धि

इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि जैसा कर्म का उदय होता है वैसा ही रागादि विकार होता है।

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः। तच्च कर्म स्वहे-
तुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥९९॥ देवागमस्तोत्र ॥

कामादि (रागादि) से उत्पन्न ससार कर्मबंध के अनुरूप से है और वह कर्म अपने कारणों से है। जीव शुद्ध अशुद्ध से दो प्रकार हैं।

संसार में भेद बिना कारण के नहीं होता। एको दरिद्र एकः श्रीमानिति च कर्मणः ॥ ऐसा कर्म के निमित्त से दरिद्र श्रीमान् का भेद पचाध्यायी में कहा है। सो इसका अपलाप करना ठीक नहीं है।

प्रवचनसार में शुभोपयोग अशुभोपयोग का लक्षण

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयतिः—

जो जाणादि जिणिंदं पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ॥
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१५७॥ ज्ञेय०

विशिष्ट क्षयोपशमदशा विश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीय-पुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीतशोभनोपरागत्वात् परम-भट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्त-भूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः।

अथाशुभपोगस्वरूपं प्ररूपयतिः—

विसयकसाओगाढ़ो दुस्सुदि दुच्चित्त दुट्ठगोट्ठिजुदो ॥
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सोऽसुहो ॥१५८॥ ज्ञेय०॥

विशिष्टोदयदशा विश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्ति-परिगृहीताशोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेव-परमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यत्रोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषाय-दुःश्रवणदुराशयदुष्टसेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोगः। अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यतिः—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ॥
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥१५९॥ ज्ञेय०॥

यो हि नामायं परद्रव्यसंयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोगः स खलु मन्दतीव्रोदयदशाविश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्ति-तन्त्रत्वादेव प्रवर्तते न पुनरन्यस्मात् । इत्यादि ॥ प्रवचनसार

इस टीका का अर्थ —जो यह (१५८ वीं गाथा में) पर द्रव्य के सयोग के कारणरूप में कहा गया अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मन्द तीव्र उदय दशा मे रहने वाले परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है, किन्तु अन्य कारण से नहीं ॥ इत्यादि ॥

हां ! रागादि का स्वामी बनना और बात है। मिथ्यात्व के सद्भाव में राग का यह स्वामी था, स्वरूप मानता था। मिथ्यात्व के अभाव में राग को हेय, दुःखरूप, दुःखफलवाला मानता है। उसका स्वामी नहीं बनता है। प्रज्ञा छैनी के द्वारा नियत स्वलक्षणों से विभक्त करता है। तथा अपने स्वरूप को ग्रहण करता है।

समयसार मोक्षाधिकार गाथा २९४ की टीका में स्वलक्षण ऐसे लिखते हैं:—

आत्मनो समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं तत्तु प्रवर्त्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते, निवर्त्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्त्तते, तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीय तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्, समस्तसहक्रमप्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति यावत्। बंधस्य तु आत्मद्रव्यसाधारणा रागादयः स्वलक्षणं। न च रागादयः आत्मद्रव्यासाधारणतां बिभ्राणाः प्रतिभासते, नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्वात्। न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभाति, तावंत एव रागादयः प्रतिभांति रागादीनंतरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात्। यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभावप्रत्यासत्तेरेव नैकद्रव्यत्वात् इत्यादि

इस कथन से सिद्ध होता है कि रागादि बंध आत्मा में होते हुवे भी आत्मा के नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा में अनुभव कर रहा है। तभी तो उनको हेय मानता है। मिटाने का पुरुषार्थ करता है। तारतम्य से अतिशायनपना (हीनाधिकपना) देखा जाता है। इसीसे ग्रन्थों मे द्रव्यकर्म को कारण कहा है। ज्ञानी के भी रागादि विकार होते हैं, तथा स्वामीपना छूट जाने से यह भी कहते हैं कि ज्ञानी के विकार

नहीं हैं। इन दोनों तरह से यही निर्णय निकलता है कि द्रव्यकर्म अंतरंग निमित्त अवश्य है। जिससे डिगरी टू डिगरी की मान्यता ठीक है, आगम अनुकूल है। देखो समय सार गाथाः-

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ॥
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

टीकाः—ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः, तावत् तस्यांतर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ॥१७१॥

अर्थः—जबतक ज्ञान गुणका जघन्यभाव (कषायसहित क्षायोपशमिक भाव) है, तबतक वह (ज्ञान गुण) अंतर्मुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है। इसलिये पुनः पुनः उसका अन्य रूप (रागादि रूप) परिणमन प्राप्त होता है। वह (ज्ञानगुण का जघन्यभाव से परिणमन) यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे अवश्यम्भावी रागका सद्भाव होने से बंध का कारण है।

जो केवल स्वतंत्र आत्मा की परिणति को बताते हैं वे एक व्यवहार नयका छोड़ देने से मिथ्यादृष्टि हैं। एकान्ती हैं।

अतः सभी तत्वों का विशेष कर आत्मा का दोनों नयों से निर्णय करना चाहिये, ऐसा किया हुवा निर्णय ही सम्यग्दर्शन है। सोही समयसार में कहा हैः—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ॥
आसवसंवरनिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

टीका :— अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभि-गतानि सम्यग्दर्शनं सम्पद्यंत एव । अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनि-त्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवर निर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनये-नैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोऽनुभूते-रात्मख्यातिलक्षणायाः सपद्यमानत्वात्ततो विकार्यविकार-कोभयं पुण्य तथा पाप । आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं सवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभय मोक्षः । स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः । तदुभय च जीवाजीवाविति । बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गल-योरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि,

अथचैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूता-र्थानि । ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते । तथांतर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो, जीवस्य विकारहेतुरजीवः । केवला जीवविकाराश्च पुण्यपापास्रव-संवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणाः, केवला जीवविकारहेतवः पुण्य-पापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति । नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमान-तायां भूतार्थानि ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको

जीव एव प्रद्योतते। एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धाय-त्वेनानुभूयत एव। यात्वनुभूतिः साऽऽत्मख्यातिरेवात्म-ख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेवेति समस्तमेव निरवद्यम्॥१३॥

चिरमिति नवतत्वच्छन्नमुन्नीयमानं।
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं।
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम्॥८॥

अर्थः—जो जीवादि नौतत्व हैं वे भूतार्थनय से जाने हुये सम्यग्दर्शन ही हैं। यह नियम कहा है। क्यों कि जीव अजीव पुण्य पाप आस्रव संवर निर्जरा बंध मोक्ष लक्षण वाले व्यवहार धर्म की प्रवृत्ति के अर्थ ये जीवादि नवतत्व अभूतार्थ (व्यवहार) नयकर कहे हुवे हैं।

उनमें एकपना प्रकट करने वाले भूतार्थ नयकर एकपना प्राप्त कर शुद्धनयपने से स्थापन किये गये आत्मा की ख्याति लक्षणवाली अनुभूति का प्राप्तपना है। क्यों कि शुद्धनयकर नवतत्त्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है। उनमें से विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला ये दोनों पुण्य भी हैं, पाप भी हैं तथा आस्राव्य व आस्रव करने वाले ये दोनों आस्रव हैं। संवार्य (संवररूप होने योग्य) व संवारक (संवरकरनेवाले) ये दोनों संवर हैं। निर्जरने योग्य व निर्जरा करनेवाला ये दोनों निर्जरा हैं। बंधनेयोग्य व बंधन करनेवाला ये दोनों बंध हैं। और मोक्ष होने योग्य व मोक्ष करनेवाला ये दोनों मोक्ष हैं। क्यों कि एक के ही अपने आप पुण्य-पाप आस्रव संवर निर्जरा बंध मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। तथा वे जीव और अजीव दोनों मिलकर सब नौतत्व

हैं। इनको बाह्य दृष्टि कर देखा जाय तब जीव पुद्गलकी अनादि बंधपर्याय को प्राप्तकर एकपने से अनुभव करने पर ये नौ भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं। तथा एक जीव द्रव्यके ही स्वभाव को लेकर अनुभव किये गये अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। जीवके एकाकार स्वरूप में ये नहीं हैं। इसलिये इन तत्वों में भूतार्थ नयकर जीव एक रूप ही प्रकाशमान है। उसी तरह अंतर्दृष्टि से देखा जाय तब ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का कारण अजीव है। अकेले जीवका विकार नहीं है। पुण्य आदि ये सातों पदार्थ केवल एक अजीव के विकार से जीवके विकार को कारण हैं। ऐसे ये नवतत्व हैं। वे जीव के स्वभाव को छोड़कर आप और पर कारण वाले एक द्रव्यपर्यायपने से अनुभव किये तो भूतार्थ हैं। तथा सब काल में नहीं चिगते एक जीव द्रव्य के स्वभाव को अनुभव करने पर ये अभूतार्थ (असत्यार्थ) हैं इसलिये इन नौ तत्वों में भूतार्थ नयकर कर देखा जाय तब जीव तो एक रूप ही प्रकाशमान हैं। ऐसे यह जीव तत्व एकपने से प्रगट प्रकाशमान हुआ शुद्ध नयपने से अनुभव किया जाता है। यह अनुभव ही आत्माख्याति है। आत्मा का ही प्रकाश है। जो आत्माख्याति है वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार यह सब कथन निर्दोष है। बाधा रहित है ॥१३॥

इस प्रकार नौ तत्वों में बहुत काल से छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय से निकाल कर प्रकट की है। जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुये एकाकार को निकालते हैं उसी तरह यह आत्मज्योति समझना। सो अब हे भव्यजीवो! इसको हमेशा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे हुये नैमित्तिक भावों से

भिन्न एक रूप देखो। यह हर एक पर्याय में एकरूप चिच्चमत्कार मात्र उद्योतमान है॥

इस प्रकार जीव और अजीव का विकारहेतुत्व नाम का अनादि संबंध है। कर्मोदय और विकारी भावों में व्यङ्ग्यव्यञ्जक अर्थात् निमित्त नैमित्तिक संबंध है। जैसे माचिस पर सींक रगड़ने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है वैसे ही आत्मा व कर्मका संयोगसंबंध है। यही बात समयसार में कही है—

मोक्षहेतुतिरोधानाद् बंधत्वात् स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते॥१०६॥

इस कलश में द्रव्यकर्म के तीन कार्य लिखे हैं १ मोक्ष के कारण को ढांकना, २ द्रव्यकर्म स्वयं बंधरूप है, ३ मोक्ष के कारण ढांकने से विपरीत भावों को उत्पन्न करना। प्रथम मोक्ष के कारण ढांकने की गाथा :—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो॥
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो॥
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं॥१५९॥

इनका अर्थ स्पष्ट ही है। द्वितीय द्रव्यकर्म स्वयं बंधरूप है, इसकी गाथा :—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णिएण वच्छण्णो॥
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं॥१६०॥

इसका भी अर्थ सुगम ही है।

तृतीय मोक्ष के कारण ढांकने से विपरीतभावों को उत्पन्न करने वाली गाथाः—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ।१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिनवरेहिं परिकहियं ॥
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं ॥
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३।

टीकाः—सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किल मिथ्यात्व, तत्तु स्वयं, कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्व। ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकमज्ञानं तत्तु, स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानत्वम्। चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकः किल कषायः। स तु स्वयं कर्मैव। यदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वं। अत. स्वय मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्ध ॥

यावत्पाकमुपैति कर्म विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा।
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ॥
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबंधाय त-
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परम ज्ञान विमुक्तं स्वतः ॥२॥

पुण्यपापाधिकार गाथा १६३ के अंतर्गत ॥

कलशका अर्थः—जबतक कर्मका उदय है और ज्ञानकी सम्यक् कर्मविरति नहीं है, तब तक कर्म और ज्ञान दोनों का इकट्ठापन भी कहा गया है। तबतक इसमें कुछ हानि भी नहीं है। यहां पर यह विशेषता है कि इस आत्मामें कर्म के उदय की जबरदस्ती से आत्माके वशके विना कर्म उदय होता है, वह तो बंध के ही लिये है। और मोक्ष के लिये तो एक परमज्ञान ही है। वह ज्ञान कर्म से आप ही रहित है॥

भावार्थः—कर्मके करनेमें अपने स्वामीपने रूप कर्त्तापने का भाव नहीं है। जबतक कर्मका उदय है, तबतक कर्म तो अपना कार्य करता ही है। और वहीं पर ज्ञान है, वह भी अपना कार्य करता है। एक ही आत्मा में ज्ञान और कर्म दोनों के इकट्ठे रहनेमें भी विरोध नहीं आता। जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्-ज्ञान का परस्पर विरोध है, उस तरह कर्मसामान्य के और ज्ञानके विरोध नहीं है॥

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जिनेन्द्र भगवान् के वचन क्या हैं। अरे भैया? मन लगाकर थोड़ा स्वाध्याय करो। अपने भावों को जहाँ तक बने, बुरे चिंतन से बचावो। फिर स्वयं यह सब निर्णय हो जावेगा। किसी से कहने या पूछने की आवश्यकता ही नहीं है। क्रमसे शास्त्रोंका मनन न कर इधर उधर के ट्रेक्ट पढ़कर अपना सिद्धांत स्थिर करते हैं, और उसे भगवान् का उपदेश कहते हैं यह ठीक नहीं है। पानी में पैर न देना पड़े और तैरना आजाय यह कैसे हो सकता है॥ इन सब विषयों के निर्णय करने के लिये आचार्यों ने बड़ा परिश्रम किया है। उनका हमें उपकार मानना चाहिये।

सती श्रीमैंनासुदरी का दृष्टान्त प्रसिद्ध है, कि उसने गुरुसे सम्यक् अध्ययन किया था। अतः पिता द्वारा 'कि तूं किस का

दिया हुआ खाती है' पूंछे जाने पर यह उत्तर दिया कि मैं अपने कर्मका दिया खाती हूं। अन्य पुत्रियों ने कहा कि पिता का दिया खाती हैं। विशेष क्या लिखें। इससे ही पाठक गण समझ लेंगे। अब हम श्री पंडित टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाश में क्या लिखते हैं इसी को दिखाते हैं—बंधतत्व का विपरीत श्रद्धान—पृष्ठ १२१

बहुरि इनि आस्रवभावनिकर ज्ञानावरणादि कर्मनिका बंध हो है। तिनका उदय होतैं ज्ञानदर्शनका हीनपना होना, मिथ्यात्वकषायरूप परिणमन, चाह्या न होना, सुखदुःखका कारण मिलना, शरीरसयोग रहना, गतिजातिशरीरादि का निपजना, नीचा ऊंचा कुल पावना होइ सो इनके होने विषैं मूलकारण कर्म है। ताकौं तो पहिचानै नाहीं, जातैं वह सूक्ष्म है, याकौं सूझता नाहीं। अर आपकौं इनकार्यनि का कर्त्ता दीसैं नाही, तातैं इनके होने विषैं कै तो आपकौं कर्ता मानै, कै काहू कौं कर्ता मानै। अर आपका व अन्य का कर्तापन न भासै तो गहल रूप होय भवितव्य मानै। ऐसैं ही बंधतत्व का अयथार्थ ज्ञान होतैं अयथार्थ श्रद्धान हो है।

मोक्षमार्गप्रकाश द्वितीय अधिकार पृष्ठ ३३

तातैं कर्म का सम्बन्ध अनादि मानना। सो ही प्रवचनसार शास्त्रकी तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या विषैं जो सामान्यज्ञेयाधिकार है तहां कह्या है। रागादिक का

कारण तो द्रव्यकर्म है, अर द्रव्यकर्म का कारण रागादिक हैं। अब उहां तर्क करी जो ऐसैं इतरेतराश्रय दोष लागै, वह वाकै आश्रय, वह वाकै आश्रय, कहीं थंबाव नाहीं है। तब उत्तर ऐसा दिया है :—

नैवं,अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्मसंबंधस्य तत्र हेतुत्वेनोपादानात्।

याका अर्थः— ऐसें इतरेतराश्रय दोष नाहीं है। जातैं अनादिका स्वयंसिद्ध द्रव्यकर्मका संबंध है, ताका तहां कारणपना करि ग्रहण किया है। ऐसें आगम में कह्या है। बहुरि युक्तितैं भी ऐसें ही संभवै है जो कर्म निमित्त बिना पहिले जीव कै रागादिक कहिये तौ रागादिक जीवका निजस्वभाव होय जाय। जातैं पर निमित्त विना होइ ताही का नाम स्वभाव है। तातैं कर्म का संबंध अनादि ही मानना। बहुरि इहां प्रश्न? जो न्यारे न्यारे द्रव्य, अर अनादितैं तिनिका संबंध कैसें संभवैं। ताका समाधान :—

जैसे ठेठिहीसूं जलदूध का वा सोनाकिट्टिक का वा तुषकण का वा तैल तिलका संबंध देखिये है। नवीन इनका मिलाप भया नाहीं। बहुरि प्रश्न? जो संबंध वा संयोग कहना तौ तब संभवे जब पहिले जुदे होयं पीछे मिलें। इहां अनादि मिले जीवकर्मनिका संबंध कैसे कह्या? ताका समाधान :—

अनादि तैं तौ मिले थे, परंतु पीछैं जुदे भए तब जान्या जुदे थे तौ जुदे भए। तातैं पहिले भी भिन्न ही थे। ऐसैं अनुमान करि वा केवल ज्ञान करि प्रत्यक्ष भिन्न भासै है। तिसिकरि तिनिका बंधान होतैं भिन्नपणा पाइये है। बहुरि तिस भिन्नपना की अपेक्षा तिनिका संबंध वा संयोग कह्या है। जातैं नए मिलौ वा मिले ही होहु भिन्न द्रव्यनिका मिलाप विषैं ऐसैं ही कहना संभवै है। ऐसैं इनि जीवनि का अर कर्मका अनादि संबंध है।

मोक्षमार्गप्रकाश सप्तम अधि र पृष्ठ २९४

प्रश्नः—यहां कोऊ कहै कि शास्त्रनिविषैं आत्माको कर्म नोकर्म तैं भिन्न अबद्धस्पृष्ट कैसे कह्या है? ताका उत्तरः— संबंध अनेक प्रकार है। तहां तादात्म्य संबंध अपेक्षा आत्माकौं कर्म नोकर्मतैं भिन्न कह्या है। तहां द्रव्य पलटिकरि एक नाहीं होय जाय है, इस ही अपेक्षा अबद्धस्पृष्ट कह्या है। बहुरि निमित्त नैमित्तिक संबंध अपेक्षा बंधन है ही। उनके निमित्त तैं आत्मा अपनी अनेक अवस्था धरै ही है। तातैं सर्वथा निर्बंध आपकौं मानना मिथ्यादृष्टिपना है।

पृष्ठ २९२—जो रागादि पर का मानि स्वच्छंद होय, निरुद्यमी होय, ताकौं उपादानकारण की मुख्यता करि रागादि आत्मा का है ऐसा श्रद्धान कराया है। बहुरि जो रागादिक आप का स्वभाव मानि तिनिके

नाशका उद्यम नाहीं करै है, ताकौं निमित्तकारण की मुख्यता करि रागादिक परभाव हैं ऐसा श्रद्धान कराया है। दोऊ विपरीत श्रद्धानतैं रहित भए सत्यश्रद्धान होय तब ऐसा मानै। ए रागादिक भाव आत्मा का स्वभावतौ है नाहीं, कर्म के निमित्त तैं आत्मा के अस्तित्वविषैं विभाव पर्याय निपजै है। निमित्त मिटे इनका नाश होतें स्वभाव भाव रहि जाय है। तातैं इनके नाशका उद्यम करना।

इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाश के मूलशब्दों का अर्थ समझ कर पढें तब कहीं भी किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह सकता। सब कथन स्पष्ट है। इस प्रकार 'किरणों' का कथन घटित नहीं होता है। समयसारकलश २०३ में रागको अकृत (अहेतुक पने) का निषेध किया है।

कार्यत्वादकृतं न कर्म इत्यादि ॥

अर्थ—जो कर्म (अर्थात् भावकर्म) है वह कार्य है, इसलिये वह अकृत नहीं हो सकता, अर्थात् किसी के द्वारा किये विना नहीं हो सकता, इत्यादि।

इन ही रागादि अज्ञानभावों की गहन महिमा संसार है। प्रकृतियों से बंध है। इसी को समयसार सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार गाथा ३१२-३१३ में स्वयं आचार्यश्रीने स्पष्टीकरण किया है:-

चेया उ पयडीयट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ॥
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥

टीका:—अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्त्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति। प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति। एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावेऽप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बंधो दृष्टः। ततः संसारः। तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः॥

भावार्थः—आत्मा के और ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतिओं के परमार्थ से कर्त्ताकर्म भावका अभाव है, तथापि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव के कारण बंध होता है। इससे ससार है और कर्ताकर्मपने का व्यवहार है। जबतक यह आत्मा प्रकृति के निमित्तसे उपजना विनशना न छोड़े तबतक वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि असयत है।

श्रीशुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में स्पष्ट कहा है कि आत्मा को कर्मों की साम्यसीमा से पृथक् करे।

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मात्मन्यात्मनिश्चयम्॥
पृथक्करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी॥

जहाँ तक समताभावों को सीमा है, वहां तक आत्मा है। इस प्रकार आत्मा में आत्मा का निश्चय करके विज्ञानी आत्मा अनादि से मिले जीव और कर्मों को पृथक पृथक कर लेता है॥ जहां समता भाव नहीं है—वहां आत्मा नहीं है, कर्म है॥

इस प्रकार संक्षेप से कर्मोदय और विकारी भावों के संबंध का विवेचन किया है। विस्तार रुचिवालों को सभी अनुयोगों का स्वाध्याय कर अपने स्वरूप की श्रद्धा दृढ बनानी चाहिये।

द्वितीय प्रश्न :—

निमित्तनैमित्तिक संबंध का खुलाशा क्या है ? कार्य के उत्पादन में निमित्त सहायक होता है या केवल उपस्थित मात्र रहता है। उपर्युक्त मोक्षमार्ग प्रकाशकी किरणों में पत्रन०३७८ पर श्री कानजी स्वामी लिखते हैं कि "अपनी योग्यतानुसार परिणाम होता है। निमित्त का बिलकुल प्रभाव नहीं होता" क्या यह कहना सिद्धान्त के अनुसार ठीक है। बाहरी पदार्थ का आत्मा पर असर होता है या नहीं ?

समाधान :—

निमित्त नैमित्तिक भाव की चर्चा वर्तमान में जोरों पर है। जितने भी छोटे बड़े बहुज्ञानी अल्पज्ञानी पुरुष वा महिलाएँ हैं वे भी सब इसी के चक्र में हैं। जबकि यह बहुत ही सीधी सरल सी बात है कि सम्बन्ध का कार्य सम्बन्ध से होगा तथा अकेले का कार्य अकेले से होगा। अशुद्ध शब्द ही पर निनित्तत्वपने को सूचित करता है। इसलिये ये सब व्यर्थ की चर्चा है। तथापि कुछ (संक्षेप में) निमित्त उपादान का ठीक कथन इस प्रकार है:—

जितने भी पदार्थ हैं वे अपने ही परिणमन के लिये उपादान हैं। तथा अन्य के परिणमन के लिये निमित्त हैं। किसी विशेष द्रव्य पर्याय का नाम उपादान हो अथवा निमित्त हो ऐसा नहीं है। दोनों के मिलने पर भी वही द्रव्य विवक्षासे निमित्त तथा उपादान है। तथा एक ही द्रव्य में गुण परस्पर में निमित्त उपादान होते हैं। निमित्त का प्रभाव उपादान पर पड़ता है। अतः निमित्त की सहायता के बिना उपादान नहीं परिणम सकता। आप्तमीमांसा में कहा है:—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ॥
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ॥ २४ ॥
कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ॥
विद्याऽविद्याद्वयं न स्यात् बंन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२५॥

अर्थः—अद्वैत एकान्त पक्ष में भी कारकों का और क्रिया का देखा हुआ भेद विरोध को प्राप्त होता है। क्योंकि एक कारण अपने से नहीं उत्पन्न होता है। एक अद्वैत में कर्म द्वैत (शुभशुभ) फलद्वैत (सुखदुःख) लोकद्वैत (इह लोक परलोक) विद्याऽविद्या (ज्ञान और अज्ञान) तथा बधमोक्ष ये जोड़ा नहीं बनसकते हैं। अतः अनेक कारण चाहिये।

कार्य की उत्पत्ति अनेक सामग्रियों से होती है। एक कारण से नहीं होती है।

कार्यस्य जनिका सामग्री नैकं कारणम् ॥ इसी को मोक्षमार्ग प्रकाश में कहते हैं। २७८ पृष्ठ ७ वां अधिकार।

यहां प्रश्नः—जो कर्मका निमित्त तैं प हो हैं, तौ कार्यका उदय रहै तावत् विभाव दूरि कैसें होय। तातैं याका उद्यम करना तौ निरर्थक है। ताका उत्तर :—

एक कार्य होने विषैं अनेक कारण चाहिये हैं। तिनिविषैं जे कारण बुद्धिपूर्वक होय, तिनिकौं तौ उद्यम करि मिलावै अर अबुद्धिपूर्वक कारण स्वयमेव मिलें, तब कार्य सिद्धि होय। जैसे पुत्र होने का कारण बुद्धिपूर्वक तौ विवाहादिक करना है, और अबुद्धिपूर्वक भवितव्य है। तहां पुत्र का अर्थी विवाहादिकका तौ उद्यम करै अर भवितव्य स्वयमेव होय, तब पुत्र होय। तैसें विभाव दूरि करने के कारण बुद्धिपूर्वक तौ

तत्वविचारादिक हैं, अर अबुद्धिपूर्वक मोह कर्मका उपशम आदिक हैं। सो ताका अर्थी तत्वविचारादिक का तौ उद्यम करै, और मोहकर्म का उपशमादिक स्वयमेव होय, तब रागादिक दूर होंय॥

यदि निमित्त का तथा बाह्यपदार्थों का प्रभाव न पड़ता होता तो सत्संग को विधेय क्यों कहते। सज्जनों की संगति (चाहे वह गुणाधिक से हों अथवा गुणसम से, जो मोक्षमार्ग में स्थित हों) अवश्य करनी चाहिये। सो ही प्रवचन सार चारित्राधिकार गाथा २७० में कहा है:—

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहि वा अहियं॥
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि कम्म परिमोक्खं॥२७०॥

टीका:— यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्। ततो दुःखमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः। तथाऽस्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसंगात् गुणरक्षा, शीततरतुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गु णाधिकसंगात् गुणवृद्धिः

अर्थः—लौकिकजन के संग से संयत भी असंयत होजाता है। इसलिये यदि श्रमण दुःखसे परिमुक्त होना चाहता हो तो वह समानगुण वाले श्रमणों के अथवा अधिक गुणवाले श्रमणों के संग में सदा निवास करो॥

क्योंकि आत्मा परिणाम स्वभाववाला है इसलिये अग्नि के संग में रहे हुवे पानी की भांति (संयतके भी) लौकिक संगसे विकार अवश्यंभावी होने से संयत भी असंयत ही हो जाता है। इसलिये दुःखों से मुक्ति चाहनेवाले श्रमणको (१) समानगुणवाले श्रमण के साथ अथवा (२) अधिक गुणवाले श्रमण के साथ सदा ही निवास करना चाहिये। इसप्रकार उस श्रमण के (१) शीतल घरके कोने में रखे हुये शीतल पानी की भांति समान गुणवाले की संगति से गुणरक्षा होती है। और (२) अधिकशीतल हिम (वरफ) के संपर्क में रहनेवाले शीतल पानी की भांति अधिक गुनवाले के सगसे गुण वृद्धि होती है।

इस में जल का दृष्टान्त दिया है। तो विचारो कि जल स्वभावतया शीतल है उस को मिट्टी के घड़े में भरकर घर के कोने में वालू पर रखा जावे तथा फिर भी तुहिन (बर्फ) शर्करा एला आदि डाल देवें तो शीतविशेष हो जाता है। इससे पता लग जावेगा कि निमित्त कितना सहायक होता है। यदि कोई कहें कि जल को ऐसा ही होना था निमित्त ने कुछ नहीं किया तो इसका उत्तर यही है कि फिर मिट्टी का घड़ा वर्फ शर्करा को पृथक् रखदेवे तथा जल को अन्य पात्र में पृथक् रख देवे, तो उपस्थिति तो बनगई, और जलको शीतल होना ही है सो सयोग बिना ही विशेष शीतल होजाय इसलिये मोक्षमार्ग में शुभ-निमित्तों की बहुत आवश्यकता है।

अन्य दृष्टान्त

पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते। इस कथन में देवदत्त का मोटापन बिना खाये नहीं हो सकता। अर्थापत्ति से यही

सिद्ध होता है कि वह रात्रि में खाता है। तथा खाने मात्र से मोटापन नहीं होता, निश्चिन्त होकर खाने से, उसको उदराग्नि द्वारा पचाकर रसादि बनालेने से पीनपना हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो सर्वत्र भरे पड़े हैं।

इसीसे सोचिये कि निमित्तने कितनी सहायता की। यदि निमित उपस्थित होने से कहा जाता है, तो डब्बे में (कटोरदान में) पूड़ी रखने से पेट के समीप हाजिर रहने से मोटापन हो जावे। ऐसा उपस्थितिमात्र से होता देखा नहीं जाता। अतः निमित्तका अर्थ उपथित रहना मात्र कहना ठीक नहीं है।

तीसरा दृष्टान्त लीजिये कि सूर्यकान्तमणि है, वस्त्र है- उपस्थित दोनों हैं, अग्निउत्पन्न हो जावे। सूर्य के निमित्त बिना अग्नि नहीं होती। सो ही कलश में कहा है।

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।।
तस्मिन्नमित्तं परसंगएव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।

अर्थः—सूर्यकान्तमणिकी भाँति (जैसे सूर्यकान्तमणि स्वतः से ही अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्त होता है उसी प्रकार) आत्मा अपने को रागादिक का निमित्त कभी भी नहीं होता। उसमें निमित्त परसग ही (परद्रव्य का सबंध ही) है। ऐसा प्रकाशमान है (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसी ने बनाया नहीं है) ऐसे वस्तुस्वभावको जानता हुवा ज्ञानी रागादिको निजरूप नहीं करता ।।१७५।।

बाह्य पदार्थोंका प्रभाव

बाह्य पदार्थों का भी आत्मा पर असर होता है। क्योंकि

आत्मा वर्त्तमान में सर्वथा अमूर्त्त नहीं है, बंधनबद्ध आत्मा मूर्त्त है। यदि अकेली आत्मा होती तो अन्य पदार्थों का कोई प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ता परन्तु अनादि से अकेली आत्मा अमूर्त्त नहीं है। अतः द्रव्य क्षेत्रकाल भाव सहित आत्मा संसारी है। सोही समयसार गाथा २७ मे कहा है :—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ॥
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एकट्ठो ॥ २७ ॥

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्त्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः। ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नम् ॥२७॥

भावार्थः—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है, और निश्चयनय भिन्न भिन्न कहता है। इसलिये व्यवहार नय से शरीरका स्तवन करने से आत्माका स्तवन माना जाता है। इस विषय की एक प्राचीन गाथा श्रीपूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धि में लिखी है·—

बंध पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्सणाणत्त
तम्हा अमुत्तिभावोऽणेयतो होइ जीवस्य ॥

आत्मा का अमूर्तिभाव अनेकांत से है। बंधकी अपेक्षा एकत्व है-मूर्तिक है। लक्षण से (नानात्व अमूर्त्तिक) है। यह सब कथन व्यवहार नयका है। अशुद्ध-निश्चयनय भी व्यवहार है। 'इसका स्पष्टी करण आगे के प्रश्न के समाधान से होगा। देखो कलश २१०

व्यावहारिकदृशैव केवलं, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ॥
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते, कर्तृकर्म च सदैकमिष्यते ॥२१॥

सोही समयसार की गाथा ३५० की टीका में कहा है:—

व्यवहार नय का कथन :—

तथाऽऽत्मापि पुण्यपापादि पुद्गलपरिणामात्मक कर्म करोति। कायवाङ्मनोभिः पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति। कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति। सुखदुःखादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादि कर्मफल भुङ्क्ते च। नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति। ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्म भोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः॥

बाह्यपदार्थों का आत्मापर यह प्रभाव पड़ना मंत्र प्रयोग से स्पष्ट है कि मंत्रप्रयोग करनेवाला कहीं है, तथा जिसका वशीकरण हो जाता है (बधन टूट जाते हैं) वह कहीं है। देखो समयसार कर्तृकर्म अधिकार गाथा ९१ की टीका:—

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भाव किल करोति तस्याय कर्त्ता स्यात्साधकवत्। तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते। तथाहि:-यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्त्ता स्यात्। तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्त्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यंते विषव्याप्तयो, विडम्ब्यंते योषितो,

ध्वंस्यंते बंधास्तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेना-त्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्त्ता स्यात् । तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्री-भूते सत्यात्मान कर्त्तारमंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादि-कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते ॥९१॥

इसी प्रकार शीत उष्ण पुद्गलों के निमित्त से आत्मा शीतोष्ण का अनुभव करता है। नहीं तो शीत से बचने के उपाय क्यों करे, तथा गर्मीसे क्यों भागे। देखो गाथा ९२ की टीका:—

तथाहि:—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थाया रागद्वेष-सुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानु-भवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णाया पुद्गलपरिणामाव-स्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यतभिन्नाया स्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गला-न्नित्यमेवात्यतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सत्ये-कत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्व प्रकटीकुर्वन् स्वयमज्ञानमयीभूत एषोऽहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्य कर्त्ता प्रतिभाति ॥९२॥

इस टीका मे आये हुये तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य पद से निमित्तनैमित्तिक व्यवहार संबंध स्पष्ट होजाता है। फिरभी जो हठ करते हैं कि निमित्त मात्रउपस्थित रहता है, बाह्यद्रव्य कुछ नहीं करते। ऐसी मान्यता बड़ी भारी भूल है।

ज्ञानज्ञेय व्यवहार

ज्ञान अपने को ही जानता है। निश्चयनय से पर को जानता ही नहीं है। यहाँ यही विचार करना है कि निश्चयनय से अन्यज्ञेयों के आकार रूप ज्ञान ही तो परिणमा, तब क्या निश्चयनय से ज्ञेय ज्ञान के विषय नहीं हुये। व्यवहारनय का विषय अन्य ज्ञेयों को बताना ठीक नहीं है। स्व-पर दोनों ज्ञेयोंको जानना ऐसा ज्ञायकस्वभाव निश्चयनय का ही विषय है इस तरह ज्ञान ज्ञेयाकार होता है। सिद्धभगवान् का ज्ञान सदैव निरन्तर ज्ञेयाकार है। यदि इसप्रकार ज्ञानका ज्ञेयोंके निमित्तों से परप्रकाशकत्व धर्म न माना जाय, तो ज्ञान अन्य गुणों के समान जड़ हो जावेगा, अर्थात् स्वज्ञेयका भी ज्ञाता न रहेगा। प्रवचनसार गाथा ४१ की टीका मे इन्द्रियज्ञान अतीन्द्रियज्ञान की व्याख्या स्पष्ट रूप से की है :—

इन्द्रियज्ञानं नामोपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन्, अन्तरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्त्तते। प्रवर्त्तमाने च सप्रदेशमेवाध्यवस्यति स्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम्। मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्त्तम्। वर्तमानमेव परिच्छिनत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावान्न तु वृत्तं वर्त्स्यच्च। यत्तु पुनरनावरणमनिन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमणाद्दाह्यमेव यथा, तथाऽऽत्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्त्तममूर्त्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥४१॥

इन्द्रियज्ञान में अन्तरङ्ग बहिरङ्ग दोनों ही प्रकार के निमित्त बताये हैं। तभी कारण के वश से ज्ञेयों में प्रवर्त्तता है। सो ज्ञेयों में व्यवहार से आविष्ट भो,तथा निश्चय से अनाविष्ट भी है (देखो प्रवचनसार मे गाथा २९ की टीका)

ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया

इस तरह संसारी जीवन में जो ज्ञेयार्थ परिणयनक्रिया (रागद्वेषादि) मानी है। उसमें भो कारण बाह्य पदार्थ हैं, या स्वतः स्वभाव है? स्वतः स्वभाव मानने पर केवल ज्ञान मे भी होना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञेयों का असर भी ज्ञान पर पड़ता है। तदनुसार रागद्वेष करके बधता है। प्रमाणके लिये देखो प्रवचनसार को गाथा ४२—४३ की टीकाः—

यतः प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभारसंभावना-करणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रै-रुद्गीतः ॥४२॥

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्गलकर्मांशाः संत्येव। अथ स तेषु सचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते। तत एव च क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति। अतो मोहोदयात् क्रिया-क्रियाफले न तु ज्ञानात् ॥४३॥

इस प्रकार ज्ञेयार्थपरिणति से इष्ट अनिष्ट कल्पना तथा मैं इसका हूँ यह मेरा है इत्यादि रूप से विकल्प उत्पन्न होने में अन्तरंग कर्मोदय कारण है तथा बहिरंग कारण ज्ञेय हैं।

जैसे दूध में डाली हुई इन्द्रनील मणि अपनी प्रभा द्वारा सफेदी को मिटाती हुई दूध को नीलरूप कर देती है। प्रवचनसार गाथा ३० में ऐसा ही कहा है।

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए ॥
अभिभूय तंपि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

टीका का अर्थः—जैसे दूध में पड़ा हुवा इन्द्रनीलमणि रत्न अपने प्रभासमूह से दूध में व्याप्त होकर वर्त्तता हुवा दिखाई देता है, उसी प्रकार संवेदन (ज्ञान) भी आत्मा से अभिन्न होने से कर्ता अंश से आत्मता को प्राप्त होता हुआ ज्ञान रूप करण अंश के द्वारा कारणभूत पदार्थों के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों में व्याप्त हुवा वर्तता है। इसलिये कार्य में कारण का (ज्ञेयाकारों मे पदार्थोंका) उपचार करके यह कहने में विरोध नहीं आता कि ज्ञानपदार्थों में व्याप्त होकर वर्त्तता है।

ऐसे ही बाह्यपदार्थों में इष्ट अनिष्ट कल्पना निमितवश करता हुवा जीव बंधता है। इस तरह व्यवहार से निश्चय निमित्तनैमित्तिक संबंध सिद्ध हुवा ॥

मूर्तिपूजा और निमित्तनैमित्तिकसंबंध

मूर्तिपूजा का यही तो सिद्धान्त है कि मूर्ति के दर्शन से आत्माकी वीतरागता सर्वज्ञता का स्मरण हो आवे। यथार्थ श्रद्धा होने से सम्यग्दर्शन बना रहे। मूर्त्या पूजा मूर्तिपूजा इसतरह तृतीया तत्पुरुष समास से करणपना (साधकतमपना) सूचित किया है। कहीं मूर्ति पूजा को सामायिक भी कहा है। आर्त रौद्र ध्यान का परित्याग होने से धर्मध्यान कहना बिलकुल

ठीक है। कहा भी है:—आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥ यदि निमित्तनैमित्तिक भाव न माना जाय तो मूर्ति-पूजा स्वाध्याय दान उपवासादिक व्यर्थ सिद्ध होते हैं। श्री धवलाजी पुस्तक ६ चूलिका अधिकार २२ सूत्रमे पृष्ठ ४२७ में कहा है कि जिनबिम्ब सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका कारण है:—

तीहिं कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति, केई जाइस्सरा, केई सोऊण, केई जिणबिंब दट्ठूण ॥२२॥ कथं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्सवि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। तथा चोक्तं—

दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुञ्जरम् ॥
शतधाभेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा ॥

शंका:—जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है? समाधान:—जिनबिम्बके दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है। जिससे जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है। कहा भी है कि जिनेन्द्रों के दर्शन से पापसंघातरूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार कि वज्रके आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

यही कथन त्रिलोकप्रज्ञप्ति सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थराजवार्तिकादि में स्पष्ट रूप से आया है। अतः निमित्तनैमित्तिकसंबंध उपचारमात्र नहीं है, यथार्थ है। पं० आशाधरजी ने इस पंचमकाल में देवदर्शन की अत्यावश्यकता बताई है।

धिङ् दुःषमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदशामपि ॥
चैत्यालोकादृते न स्यात्प्रायो देवविशामतिः॥

मनोयोग के कालसे निमित्तनैमित्तकसंबंधकी सिद्धि

मनोयोग का काल अन्तर्मुहूर्त कहा है तथापि व्याघात और मरण की अपेक्षा एक समय भी कहा है। क्रोध मान माया लोभ कषायों का काल भी व्याघात के कारण एक समय वर्णन किया है। अर्थात् व्याघात होने से मनोयोग और कषायें बदल जाती हैं। पद्मपुराण में इस आघात से लक्ष्मण के मरण का दृष्टांत प्रसिद्ध है।

ध्यान की सिद्धि के लिये एकांत स्थान का निर्देश किया है क्योंकि अन्यत्र लौकिक जनों के या तिर्यंचों के संसर्ग से मन चचल हो जाता है। ध्यान का वर्णन ज्ञानार्णव तथा तत्वानुशासन ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। ऐसा द्रव्य क्षेत्र-काल भावों का निमित्तनैमित्तिक सबध प्रसिद्ध है।

इच्छा का निमित्तनैमित्तिकपना

समयसार के निर्जराधिकार गाथा २१० से २१४ तक विशेष रूप से इच्छा के त्याग का उपदेश दिया है। इच्छा आत्मा के लोभ कषाय की परिणति बताई है। उस इच्छा के अनेक विशेषण लगाये हैं। खाने की इच्छा, पाने की इच्छा, पुण्य की इच्छा, पाप की इच्छा ऐसा इच्छावों का सबध बाह्य पदार्थों से है। बाह्य परिग्रह हिंसा के आयतन बताये हैं। अतः बाह्य परिग्रहत्याग का उपदेश दिया है।

हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ आदि

यह पुरुषार्थसिद्ध्युपायका श्लोक है। रत्नकरण्डश्रावकाचार

में परिग्रहपरिमाणाणुव्रतका दूसरा नाम इच्छापरिमाणव्रत भी कहा है।

धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥

इस तरह बाह्य पदार्थों का भी प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। यह भी स्पष्ट है।

बाह्य पदार्थोंका निमित्तनैमित्तिक संबंध

यदि बाह्य पदार्थों का प्रभाव न पडता होता तो कोई भी रोगादि से न डरता, तथा औषधि आदि का प्रयोग क्यों करता, सभी निःशङ्क रहते। अतः निमित्त का प्रभाव न मानना ठीक नहीं है समयसार बधाधिकार गाथा २८३ से २८७ में निमित्तनैमित्तिकभाव का उदाहरण इस प्रकार बताया है:—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ॥
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इम दव्वं ॥
कह तं मम होई कयं जं णिच्चमचेयणं वुत्तं ॥२८७॥

टीका:—यथाऽधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नंच पुद्गलद्रव्यंनिमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे,तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्त न्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे। यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गल द्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्। ततोऽधःकर्म्मोद्देशिकं च पुद्गल-

द्रव्यं न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात् इति । तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्य निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधक भाव प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्य प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भाव प्रत्याचष्टे । एव द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिक भावः ॥

भावार्थः—यह द्रव्य और भाव का निमित्तनैमित्तिकपना उदाहरण से दृढ़ किया है। जैसे लौकिक जन कहते हैं कि जैसा अन्न खाय वैसी ही बुद्धि हो जाती है। उसी तरह शास्त्र में उदाहरण है कि जो पापकर्म कर आहार उत्पन्न हो उसे अधः कर्मनिष्पन्न कहते है। तथा जो आहार किसी के निमित्त बना हुवा हो उसे उद्देशिक कहते हैं। ऐसा आहार जो पुरुष सेवन करे उसके वैसे ही भाव होते हैं। इस तरह द्रव्य भाव का निमित्तनैमित्तिक भाव है। उसी तरह समस्त द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिक भाव जानना। ऐसा होने पर जो पर द्रव्य को ग्रहण करता है, उसके रागादि भाव भी होते हैं। उनका कर्त्ता भी होता है, तब कर्म का बंध भी करता है और जब ज्ञानी हो जाता है तब किसी के ग्रहण करने का राग नहीं, रागादि रूप परिणमन भी नहीं, तब आगामी कर्मबंध भी नहीं। इस तरह ज्ञानी परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है। पर द्रव्य और अपने भाव का निमित्तनैमित्तिक भाव जान कर समस्त परद्रव्य को त्यागे, तब समस्त रागादि भावों की संतति कट जाती है, उस समय आत्मा अपना ही अनुभव करता हुवा कर्म के बंधन को काट कर आप में ही प्रकाश रूप प्रकट होता है। इसलिये जो अपना हित चाहते हैं वे ऐसे करो॥

निष्कर्ष

जो पर द्रव्यों को नहीं त्यागता वह उसके निमित्त से हुये भावों को भी नहीं त्यागता। जो समस्त पर द्रव्योंको त्यागता है वह उस परद्रव्य के निमित्त से हुये भावों को भी त्यागता है।

रागादिक भी पुद्गल के विकार हैं

द्रव्यराग तो पुग्दल ही है उस के उदय से जायमान भावराग भी पुद्गल है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव से कहा जाता है। स्वरूप में रागादिक नहीं हैं। अतः शुद्धनिश्चय-नय से जीव के रागादिक नहीं है। परन्तु इस समय तो रागादिक हैं ही।

उदयविवागो विविहो कम्माण वण्णिओ जिणवरेहिं ॥
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१६८

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ॥
ण दु एस मज्झ भाओ जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१६६॥

टीकाः—ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञानस्वभावोऽहं ॥ १७८ ॥ अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः। न पुनर्मम स्वभावः। एष टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावोऽहं। एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमान········ इत्यादि ॥१६६॥

अर्थः—निश्चय कर रागनामा पुद्गलकर्म है, उस पुद्गल कर्म के उदय के विपाक कर उत्पन्न यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव है, वह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव हूं 'ऐसे सम्यग्दृष्टि आप को परको जानता है॥ १९९॥ गाथा ३७१ में जीव के रागादिभाव कहे हैं :—

रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा॥
एएण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादि॥

कलश ४४ में तथा ३९ में रागादि को पुद्गल विकार कहा है। इससे अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है कि भावराग पुद्गल के भी हैं, जीव के भी हैं। यहां व्यवहारनय का कथन (निमित्तनैमित्तिक का कथन) प्रमाण जानना। इसी दृष्टि में संसार और मोक्ष हैं। शुद्ध अकेला जीवका स्वभाव न राग है न वीतराग है। (ज्ञातादृष्टा) जो है सो है। ऐसे शुद्धनय की दृष्टि में बंध मोक्ष हो नहीं है। इसतरह नयविवक्षा को ध्यान में रखकर अर्थ करना चाहिये॥

तृतीय प्रश्न :—शरीर की हलन-चलन आदि क्रिया, मात्र अपनी योग्यता से होती है या आत्मा की सहायता से होती है? आत्मधर्म अंक १ पृष्ठ ७ में लिखा है कि हाथ तो जड़ है, चमड़ा है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा और हाथ दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं। आत्मा हाथ का कुछ नहीं कर सकता। क्या यह ठीक है? आत्मा और शरीर का क्या सम्बन्ध है?

समाधान :—योग के मन वचन काय के व्यापार क्या बिना जीव के मुर्दे में भी हो सकते हैं? इसलिये बिना चेतन के कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

शरीर और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह रूप संयोगसंबंध है। इसी को प्रवचनसार में असमान जातीय विभावपर्याय कहा है :—

यथैव चानेककौशेयककार्पासमयपटात्मको द्विपटिका-त्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः। तथैव चानेक-जीवपुद्‌गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः।

गाथा ९३ की टीका का अर्थः—जैसे अनेक रेशमी और सूती पटों के बने हुए द्विपटिक त्रिपटिक ऐसी असमान जातीय द्रव्यपर्याय है। उसी प्रकार अनेक जीवपुद्‌गलात्मक देव मनुष्य ऐसी असमान जातीय द्रव्यपर्याय है।

संसारी जीव चार प्राणों सहित हैं—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। देखो प्रवचनसार गाथा १४६-१४७। शरीर कायबल प्राण में गर्भित है तथा सभी प्राण पुद्‌गलकर्म से निर्वृत्त हैं, अतः पौद्‌गलिक हैं। पुद्‌गलकर्म के कार्य हैं। पुद्‌गलकर्म के कारण हैं। पुद्‌गलप्राणों की सन्तान रूप से प्रवृत्ति के कारण हैं। तो क्या संसार में जीव से भिन्न शरीर है ? स्वरूप-लक्षण की अपेक्षा भेद अवश्य है। नहीं तो मुक्ति में भिन्न कैसे होते ? इसी से कहना पड़ता है कि पहले भी भिन्न थे। परिणति भिन्न भिन्न होते हुए परस्पर आयुकर्म से जोड़ा हुआ जीवकर्म का सम्बन्ध है। कहा है :—

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ॥
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥१४८॥

प्रवचनसार टीकाः—यतो मोहादिभिः पौद्‌गलिकर्मभिर्बद्धत्वा-

ज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति। यतश्च प्राणनिबद्धत्वात्पौद्‌गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्‌गलिककर्मभिर्बध्यते। ततः पौद्‌गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्‌गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्‌गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते।

इन प्राणों का जीव से सम्बन्ध है अतः जीवके, क्षयोपशम से प्रगट हुए ज्ञान (इन्द्रियाँ) बल आदि भाव प्राण हैं। इस तरह मिलकर द्रव्यप्राण, भावप्राण रूप असमान पर्याय हो रही है। कर्मों के तीव्र उदय में जीव अपने स्वरूप की तरफ लक्ष्य ही नहीं देता। तभीतो सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने के पूर्व अन्तः-कोडा कोडीसागरप्रमाण स्थितिबन्ध और स्थितिसत्व कहा है। सागारधर्मामृतमें कहा है:—

आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धिभाक् ।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥

इससे सत्तामे पड़े हुवे कर्मों का भी आत्मा पर प्रभाव पडता है। उदयागत का तो होता ही है। नहीं तो उपशम-सम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व की श्रद्धागुण की निर्मलता एकसी हो जाय। निर्जरा में भी अंतर पड़ा है। उपशम सम्यक्त्व से क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता। इसी से आत्मा के साथ कर्मनो-कर्म का बंध प्रतीत होता है। केवलज्ञानावरण में केवल ज्ञान को घात करने की शक्ति बताई है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है:—

कापि अपुव्वा दीसई पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती ॥
केवलणाणसहावो जेण विणासिदो होई ॥

इसलिये समगुणपर्याय द्रव्यं इसवचन से जीव तथा

पुद्‌गल आदि द्रव्य समान गुणवाले हैं। ऐसा होते हुए भी जीव अनादि से अपनी भूल से व कर्मों के सबंध से निर्बल है। जब यह जीव काललब्धि प्राप्तकर तत्वज्ञान के अभ्यास से करणलब्धिद्वारा मिथ्यात्व को खण्ड करता है। तब जीव सबल होता है और कर्म कमजोर होते हुए नष्ट होते चले जाते हैं।

शरीर की अशुचिता का वर्णन अशुचिभावना में किया है। इसलिये गृहस्थ तो स्नानकर लौकिक शुद्धि शरीर की कर लेते हैं। मुनिराज स्नान नहीं करते फिर भी जीवकी रत्नत्रयरूप पर्यायसे उनका शरीर पवित्र है। सोही श्रीसमतभद्रस्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है :—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ॥
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥

यदि आत्मा और शरीरका सबध नहीं होता तो रत्नत्रय पवित्रिते नही कहते। रत्नत्रय तो आत्माका स्वभाव है। व्यवहार रत्नत्रय भी तो आत्माश्रित ही है। व्यवहार का अर्थ जब भेद रूप करते हैं। तब भेद तो अभेद सापेक्ष ही होता है। भेद विना अभेद नहीं-अभेद विना भेद नहीं। इस तरह भेदाभेद रूप ही रत्नत्रय एक साथ रहते है। ऐसा निर्णयकर आत्मा और शरीर की सापेक्ष पूज्यता और शुद्धि जानना। श्रीविद्यानद स्वामी आप्तपरीक्षा में कहते हैं:—

परतंत्रोऽसौ हीनस्थानवत्त्वात्। हीनस्थानं हि शरीरं।

इस प्रकार शरीर के संबंध से आत्मा को पराधीन बताया है। शरीर को कारागृहका भी दृष्टांत दिया है।

समयसार में वर्णादि गुणस्थानांत भावों को निश्चय से निषेध किया है। वहां व्यवहार से शरीरादि आत्मा के बताये

हैं। जीव अजीवाधिकारः—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥
एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ॥
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा॥५७॥

गाथा ६१ की टीका में लिखा है किः—संसारावस्थायां कथंचि-द्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्य-स्याभवतश्चापि ॥ इत्यादि ॥

इससे भी सयोगसबध सिद्ध होता है।

व्यवहार से शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति बताई है।

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ॥
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो ॥२७॥

जीवाजीव० गाथा ६७

भावार्थः—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है, और निश्चयनय से भिन्न हैं। इसलिये व्यवहारनय से शरीर के स्तवन करने से आत्माका स्तवन माना जाता है। और यहां कोई प्रश्न करै, कि व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, और शरीर जड है। तब व्यवहाराश्रित जड की स्तुतिका क्या फल है? उसका उत्तर यह है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। उसे निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा है। छद्मस्थको अपना पर का आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, शरीर दिखाई देता है। उसकी शान्तरूप मुद्राको देखकर अपने भी शांतभाव होते हैं। तथा शांत मुद्रा का देखकर अतरंग में

वीतरागभाव का निश्चय होता है। ऐसी नयविवक्षा से शरीर और आत्माका परस्परावगाढ संबंध सिद्ध होता है। यदि कोई कहे कि.—

आत्मा और शरीर तो निश्चयनय से भिन्न भिन्न पदार्थ हैं—एक नहीं हो सकते। उनकी क्रियाएँ भी भिन्न भिन्न होंगी। अतः संबंध कहना ठीक नहीं है? उसका समाधान यह है कि आप निश्चयनय कौन सा लेते हैं शुद्ध या अशुद्ध। अशुद्ध शब्द ही आत्माके कर्मनोकर्मके संबंधको द्योतित करता है। इसलिए इस विवक्षा में अशुद्ध निश्चयनय व्यवहारनय दोनों एक ही हैं। तब संबंध सिद्ध हो ही गया। यदि शुद्ध-निश्चयनय से कहते हो, तो शुद्ध निश्चयनय तो कथन मात्र है। अभी वर्तमानमें आत्माकी शुद्धपर्याय तो है ही नहीं। वर्तमानमें बद्धस्पष्ट आत्मा है। आगामी जैसी सिद्धपर्याय होगी, उसी वस्तु स्वरूपका स्वभाव से कथन करने वाला शुद्ध निश्चयनय है।

व्यवहारनय से बद्धस्पष्टपना आत्माका हो रहा है, ऐसा गाथा १४१ समयसार मे कहा है। वर्तमान में शरीर और आत्मा का कोई भेद नहीं है। व्यवहार से बद्धस्पष्टपना भूतार्थ है। निश्चयसे अभूतार्थ है ऐसा गाथा १४ की टीका में कहा है

तथाऽत्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ॥

अतः जब तक संसार है, तब तक हमें व्यवहारनय का कथन प्रमाण (सत्यार्थ) मानकर आत्मा, शरीर को कथंचित् एक ही कहना चाहिये। यदि हम व्यवहारनय को

छोड़ देते हैं, तो केवली भगवान् के स्थान विहारादि क्रियाएँ नहीं बनेंगी। तथा समस्त संसारी जीवों के कर्मोदय से स्वभाव का घात नहीं बनेगा। देखो प्रवचनसार की गाथा ४५-४६ की टीका:— उसमें स्पष्ट कर दिया है, कि केवली भगवान् की क्रियाएँ औदयिकी हैं। मोह के अभावसे नवीन बंध न करने से क्षायिकी भी हैं। इससे सिद्ध होता है कि अभी कर्मनोकर्म का संबंध अर्हंत के भी है, तभी तो वे नोसंसारी बने हुए आयुपर्यन्त शरीरके साथ ठहरते हैं।

वायु के निमित्तसे समुद्र के उत्तरंग होने का दृष्टांत आत्मा की कर्म विपाक से सभव संसारावस्था के दार्ष्टांत कथन में दिया है। उससे भी आत्मा शरीरी सिद्ध होता है। समयसार कर्त्ताकर्मअधिकार ८३ गाथा:—

टीका:—दार्ष्टान्तः—तथा संसारनिःससारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमतर्व्यापको भूत्वादिमध्यान्तेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःसंसारं वात्मान कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्।

भावार्थः—आत्मा के परद्रव्य-पुद्गल कर्म के निमित्त से संसारयुक्त और ससाररहित अवस्था हैं। आत्मा उस अवस्था रूप से स्वयं ही परिणत होता है।

यहा स्वयं शब्द से यही अर्थ लेना कि निमित्तमंतरेण न परिणमते। परन्तु निमित्त को उपादान नहीं बना लेता।

उपादान दोनों हो आवे तो चेतन अचेतन हो जावे, अथवा अचेतन चेतन हो जावे। कोई सीमा ही न रहे।

यदि इन कर्म नोकर्म रूप निमित्तों को छोड़ दिया जावे, और आत्माको सर्वथा अबंध अमूर्त्तिक ही मानें, तब मतिज्ञानादिक की सिद्धि ही नहीं होगी।

क्योंकि मतिज्ञानादिक क्षयोपशम से प्रगट होनेवाले विभावरूप आत्मा के निजतत्व हैं। विभाव का अर्थ अपूर्ण लेना। मिथ्या नहीं लेना। सम्यग्दर्शन हो जाने पर मतिज्ञानादि सम्यक् हो जाते हैं। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, तथापि तारतम्य क्षयोपशम बिना नहीं बन सकता। क्षयोपशम ने ज्ञायकस्वभाव आत्मा को नहीं बनाया। ज्ञायकस्वभाव तो स्वयसिद्ध है। फिर क्षयोपशम ने क्या दे दिया ? गुण, द्रव्य, या पर्याय। ऐसा बहुत लोग पूछा करते है। सो स्वाभाविक नियम तो ऐसा ही है, कि कोई द्रव्य के गुण पर्याय कोई द्रव्य में नहीं जाते। देखो गाथा १०३, तथापि परस्पर के निमित्त के कारण जो शक्ति कर्मोदय से आवृत थी, सो क्षयोपशम के निमित्त से एक देश व्यक्त हो जाती है। कर्म का आवरण आत्मा पर सिद्ध ही किया है। अतः क्षयोपशम भी मानना चाहिये। समयसार गाथा ८० में परस्पर निमित्त नैमित्तिकपना कहा है:—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमंति ।।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमई ।।८०।।
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे ।।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्ह पि ।।८१।।
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।।

पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।८२॥
णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ॥
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥
ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेई णेयविहं ॥
तं चेव पुणो वेयई पुग्गलकम्म अणेयविहं ॥८४॥

इस तरह दोनों का कथन स्पष्ट है । यहां शरीर के संबंध का कथम या क्षयोपशम का कथन व्यवहारनय से ही प्रमाण करना चाहिये । अतः आत्मा को बद्धस्पष्ट मानना चाहिये । आगे ८५ वीं गाथा में जो दोष दिया गया है वह दोष उपादान की दृष्टि की अपेक्षा से है, न कि एक उपादान और एक निमित्त की दृष्टि से

इस प्रकार न मानने पर चरणानुयोगादि का अभाव

अन्यथा चरणानुयोग करणानुयोग रूप आगम का अभाव ही मानना पडेगा । क्योंकि इन अनुयोगों का कथन तथा पर्याप्ति संज्ञा, योग, गुणस्थान,-आदिका कथन शरीर के संबध से है । विना शरीर के गति के भाव भी नहीं बन सकते । इन में से गुणस्थान को ही देखिये । जीवकाण्ड मे उसका स्वरूप लिखा है कि गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा । मोह और योग आत्मा के हैं, इसमें किसी को विवाद नहीं है । द्रव्यमोहसे होनेवाले औदयिकादि भावरूप मोहसे यहां प्रयोजन है, सो ही कहा है :—

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं
जीवाते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥५॥

अतः आत्मा के भावों का ही नाम गुणस्थान है मतलब यह है, कि रत्नत्रय की अशुद्धावस्था और शुद्धावस्था ही गुण स्थान हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा अशुद्ध योग ही तो रत्नत्रय की अशुद्धावस्था है। ससारी जीवों के ही गुणस्थान होते हैं। सिद्धजाव गुणस्थानातीत हैं। समयसार कर्त्ताकर्माधिकार गाथा ६८ में कहा है :—

मोहणकम्मस्सुदयादु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८॥
सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ॥
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा ॥१०६॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ॥
मिच्छादिट्ठी आदो जाव सजोगिस्स चरमतं ।११०।
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदय संभवा जम्हा ॥
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ॥
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

इस कथन में और जीवकाण्ड के कथन में कोई सिद्धान्त-विरोध नहीं है। यहां जो गुणस्थानों को नित्य अचेतन कहा है, वह निमित्तप्रधान दृष्टि से कहा है, तथा जीव के शुद्ध-स्वरूप बताने की दृष्टि से है। शुद्धस्वरूप किसी अन्य का न कर्त्ता होता है न कर्म। अतः पुद्गलकर्मका कर्तापना गुण-स्थानों को अचेतन होने से ठीक बन गया। जब निन्य शब्द को छोड़कर क्षणिक पर्याय का अर्थात् अशुद्ध उपादानका विचार

करते हैं तब जीवके गुणस्थान सिद्ध होते हैं। ऐसा ही श्री धवल शास्त्र प्रथम पुस्तक के गुणस्थान स्वरूप में कहा है।

नहीं तो रागादि कभी भी जीवके सिद्ध नहीं होंगे। तब जीव सांख्यमत की तरह अकर्त्ता हो जायगा। अतः इस कथन का समन्वय व्यवहार तथा अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टिसे कर लेना चाहिये ॥ इस से आत्मा के कर्मनोकर्मबंध रूप उभयबंध की सिद्धि होती है। इसका निर्णय आस्रवाधिकार से होता है। जहां ज्ञानी को भी जघन्यपरिणमन से बधक कहा है।

द्रव्यसंग्रह मे अर्हंत का स्वरूप इस प्रकार बताया है :—

णट्ठचदुघाइकम्मो अणंतसुहणाणदंसणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥

इस गाथा में केवली भगवान् को शुभदेहस्थ लिखा है। इससे शरीर की तथा आत्मा की एकता सिद्ध होती है। भगवान् का शरीर परमौदारिक होता है। लब्धिसार में इसका कथन स्पष्ट है। श्री अमितगति आचार्य सामायिक पाठ मे कहते हैं।

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्ति। वभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र! कोषादिव खड्गयष्टिं। तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः॥

इससे सिद्ध होता है कि यदि शरीर से आत्मा की एकता न होती तो भिन्न करने के लिये शक्ति की प्रार्थना क्यों करते। दृष्टान्त भी तलवार वा म्यान का दिया है।

पुण्यउदयसे बाह्यसामग्री

जब पुण्यउदय से जीव के सब प्रकार की बहिरङ्ग सामग्री जुड़ जाती है तब शरीर का संबंध आत्मा से न हो, यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।

श्री पं० बुधजनजी ने शरीर सम्बन्ध को एक भजन में लिखा है :—

और ठौर क्यों प्यारा। तेरे ही घट में जानन हारा ॥टेक॥
हलन चलन थलवास एकता जात्यन्तर तै न्यारा न्यारा ॥१॥
मोहउदयरागी द्वेषी ह्वै क्रोधादिक का सरजनहारा ॥२॥
भ्रमत फिरत चारोंगति भीतर जनम मरन भोगत दुखभारा ॥३॥
गुरु उपदेश लखै यह आपा तबहिं विभाव करै परिहारा।
ह्वै एकाकी बुधजन निश्चल, पावै शिवपुर सुखद अपारा॥

इससे आत्मा शरीर है, बद्ध है, मूर्तिक है। ऐसा सभी ग्रन्थों में कहा है।

अथवा समयसार मे जहाँ घटपदादि का कर्त्ता आत्मा के योग और उपयोग को बताया है। वहा आत्मविकल्प और आत्मव्यापार ये हो तो उपयोग योग के लक्षण बताये हैं। क्या ये शुद्ध अमूर्त्तिक आत्मा क हो सकते हैं? नहीं। सशरीर आत्मा ही इनका आधार है। यहाँ शरीर सहित आत्मा का ही नाम जीव या आत्मा है।

मरण—जीवन—सुख—दुःख

आत्मा ही मरण जीवन सुख दुःख को प्राप्त होता है। बन्धाधिकार में इस सब का विस्तार से निरूपण है। **कर्मेन्द्रियान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्** आदि १६८ वे कलश में सबका निचोड़ कर दियाहै। इसी से दश प्राणधारी ससारी आत्मा की सिद्धि होती है। शरीर विना जीवन मरण बन ही नहीं सकते।

आत्मा भूताविष्टावस्था में अमानुषोचितव्यवहार करता है (गाथा ९६ कर्त्ता कर्माधिकार) ऐसा कहा है तो क्या

मानुषपना आत्मा का अमूर्त्तिक धर्म है। शरीर से भिन्न आत्मा का श्रद्धान तथा ज्ञान एव उसी प्रकार का उपदेश करने से क्या आत्मा एक शुद्ध पदार्थ है। श्रद्धान ज्ञान का काम तो वस्तु स्वरूप को जैसा का तैसा श्रद्धान करना व जानना है तथा फिर शरीर और आत्मा को एक न मानना है। परन्तु शरीर का सम्बन्ध नहीं छूटा है। अतः आत्मा शरीर में एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध से ठहरा हुआ है।

वैराग्यकी सामर्थ्य दिखलातेहुये निर्जरा अधिकारमें कहते हैं:—

जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण ण मज्जदि पुरिसो ॥
दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण वज्झदि तहेव ॥ १९६॥

टीका :—यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्रारतिभावसामर्थ्यान्न माद्यति तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावःसन् विषयानुपभुंजानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी ॥ ९६ ॥

तीव्र अरतिभावसे मदिरापान करनेवाला पुरुष मतवाला नहीं होता है। उसी प्रकार यह तीव्र वैराग्यकी सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी कर्मों से नहीं बधता।

इस गाथामे आत्माको मदिरापानी बताया है। वह भी आत्मा सशरीर ही हो सकता। क्या यह केवल अमूर्त्तिक आत्मा का कथन है।

यह बात भी अकलंकदेव तत्त्वार्थराजवार्त्तिक द्वितीयाध्याय जीवभव्याभव्यत्वानिचसूत्र की टीका की वार्तिक मे लिखते हैं कि सुरासे (मदिरासे) अभिभव (नशा) देखा जाता है। वह

क्या अचेतन शरीर का ही है। यदि वह अभिभव अचेतन शरीर का ही हो तो मदिरा के भाजन में (बोतलमें) भी होनेलगे। सो शरीर मे केवल होता नहीं देखा जाता। इंद्रियों को कहो तो क्या इंद्रियां जो शरीर से भिन्न हैं अर्थात् आत्मा की है या द्रव्येन्द्रियां जो शरीर से भिन्न है, जड़रूप हैं। जडरूप इंद्रियोंको कहो तो वर्त्तमान में द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय दोनों एक साथ हैं। अतः मदिरा से नशा दोनों पर होता है। केवल जड़ पर ही कहना ठीक नहीं है। यदि अमूर्त्तिक आत्मामें कहो तो ऐसा आत्मा मदिरापान करता ही नहीं है। इस से ही आत्मा सशरीर सिद्ध होता है। कर्म वा देह सहित होने से ही आत्मा के औदयिकादि पांचभावों की सिद्धि होती है।

वार्त्तिक २६ —करणमोहकरं मद्यमिति चेन्न तद्द्विविध-कल्पनायां दोषोपपत्तेः। स्यादाकूतं चक्षुरादीनां करणानां व्यामोहकारणं मद्यं पृथिव्यादिभूतप्रसादात्मकत्वादिंद्रियाणां नात्मगुणस्यामूर्तित्वादिति। नन्न किं कारणं तद्द्विविध-कल्पनायां दोषोपपत्तेः। इदमिह संप्रधार्य-तानि करणानि चेतनानि वास्युरचेतनानि वा। यद्यचेतनानि, अचेतन-त्वात्तेषां न मदकर मद्यं। यदि स्यात्प्रागेव स्वभाजनानां मदकरं स्यात्। अथ चेतनानि पृथगनुपलब्धचैतन्य-स्वभावाना पृथिव्यादीनां चेतनाद्रव्यसंबंधत्वादेव-चैतन्यव्यपदेश इत्यात्मगुणस्यैव मोहकरत्वं सिद्धं।
वार्तिक २८ :—सुराभिभवदर्शनात्—मदमोहविभ्रमकरीं सुरां पीत्वा नष्टस्मृतिर्जनःकाष्ठवदपरिस्पंद उपलभ्यते।

तथा कर्मेन्द्रियाभिभवादात्मा नाविर्भूतस्वलक्षणो मूर्त इति निश्चीयते। वार्तिक २७ :— अमूर्तत्वादभिभवानुपपत्तिरितिचेन्न तद्वद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत्। अथ मतमेतदमूर्तिरात्मा कर्मपुद्गलैर्नाभिभूयते ततस्तत्परिणामाभाव इति। तन्न किं कारणं ? तद्वद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेः। सोऽस्यानादिकर्मबंधसंतानोऽस्तीति तद्वांस्तद्वतो विशेषसामर्थ्यं। कथं ? चैतन्यवत्। यथा अनादिपारिणामिकचैतन्यवशीकृत आत्मा तद्वान्। तस्य तद्वतश्चैतन्यवतः नारकादिमर्त्यादिपर्यायविशेषवृत्तिरपि चेतना। तथाऽनादिकार्माणशरीरासक्तत्वात्कर्मवत आत्मनो मूर्तिमत्वाद् गत्यादिपर्यायविशेषसामर्थ्योपलब्धिरपि मूर्तिमतीत्येवं सति नामूर्त्तिरात्मा।

वार्तिक २५:—

औपशमिकाद्यात्मतत्त्वानुपपत्तिरतद्भावादिति चेन्न, तत्परिणामात्। स्यान्मतं य एते औपशमिकादयो भावा एतेषामात्मतत्त्वव्यपदेशो नोपपद्यते कुतोऽतद्भावात्। सर्वे हि ते-पौद्गलिकाः कर्मबंधोदयनिर्जरापेक्षत्वादिति। तन्न किं कारणं तत्परिणामात्। पुद्गलद्रव्यशक्तिविशेषवशीकृत आत्मा तद्रंजनः संस्तन्निमित्तं यं परिणाममास्कंदति यदा तदा तन्मयत्वा तल्लक्षण एव भवति।

गति के संबंध से सशरीरत्व की सिद्धि

गति का लक्षण गोम्मटसार जीवकाण्ड में ऐसा कहा है:—

गदिउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।

गति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न जीव की पर्याय को गति कहते हैं। अथवा चारों गति में जीव के गमन के कारण को गति कहते हैं। इससे यही अर्थ प्रतीत हुआ कि गति क्या है ? गति नामकर्म के सबध से प्रगट हुए सशरीर आत्मा के भाव ही हैं। जैसे एकेन्द्रियादि पर्यायों को धारण करता है, वैसा ही खान पान वाणी शारीरिक क्रियायें भी वह जीव विना सिखाये करता है। ऐसा ही गतिकर्म का उदय है। इसके कारण यह जीव संसार में पराधीन हुवा नवीन शरीर को धारण करने के लिये लोक मे सब जगह ऊपर नीचे यथायोग स्थान पर जाता है। यदि शरीर से पराधीन न होता तो सीधा स्वभाव से ऊर्ध्वगमन ही करता। क्योंकि ऊर्द्धगमनस्वभाव तो इस जीव का निश्चित है। उसे तो कौन रोक सकता है। परन्तु ससार में ऊर्द्ध्वगमन-स्वभाव देखा नहीं जाता। इसी से मालूम पडता है कि उसका प्रतिबधक कर्म है। कर्म सहित आत्मा सशरीर है। तथा शरीर के सबध से आत्मा के प्रदेशों का सकोच विस्तार होता है। लोकप्रमाण होते हुवे भी शरीरप्रमाण आत्मा है। यदि ऐसा न मानें तो आगम का लोप होता है। क्योंकि द्रव्य-संग्रह में **सदेहपरिमाणो** शब्द से कहा है। तथा सिद्धों को चरम देह से किञ्चिदून कहा है। **किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।**

महाप्रमाण या मध्यमपरिमाण या वटकणिका मात्र कहीं भी आगम में उपलब्ध नहीं होता। ज्ञान की अपेक्षा लोक प्रमाण है, तथा केवलिसमुद्धात के चौथे समय मे लोकपूर्ण होता है। फिर पांचवे आदि समयों में प्रतर कपाट दड आकार

होता हुवा मूलशरीर में प्रवेश कर जाता है। एक बार लोकपूर्ण होकर सदा ही वैसा नहीं बना रहता। तथा शरीर रहित हो जाने पर फिर प्रदेशों का बिस्तार भी नहीं होता है। इसका कारण कर्मनिमित्त का अभाव ही बताया है। न कि योग्यता।

योग्यता का विचार

योग्यता या ऐसा ही होना था, कहना अथवा ऐसी ही क्रमबद्धपर्याय है, यह कहना निर्णय पर न पहुचनेवालों का वचन है। योग्यता क्या चीज है? पूर्वकृत कर्म है अथवा वर्तमान परिणति। यदि पूर्वकृत कर्म को कहें तो कर्म निमित्त सिद्ध ही हो गया। अथवा वत्तमान परिणति को कहते हो तो चौदहवे गुणस्थान में शरीर का उदय तो है नहीं? ढांचा मात्र है, तथा केवलज्ञानादि स्वभाव परिपूर्ण है। तो केवलज्ञानादि रूप वर्तमान परिणति नाम की योग्यता विद्यमान है, जिससे आत्मा को लोकालोकव्यापी कहा है। फिर क्यों नहीं प्रदेश फैल जाते। ऐसी योग्यता क्या काम की? जो स्वय कार्य न करे। अन्य की अपेक्षा करे। यह बात समझ में नहीं आती है। प्रवचनसार गाथा २६ मे भगवान् को सर्वगत कहा है.—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा ॥
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥२६॥

टीका :—ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूप-व्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं। तथा भूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद् भगवानपि सर्वगत एव। इत्यादि।

अर्थः—ज्ञान को त्रिकालके सर्व द्रव्य पर्यायरूप प्रवर्तमान समस्त ज्ञेयाकारों को पहुँच जाने से (जानना होने से) सर्वगत कहा है और ऐसे (सर्वगत) ज्ञानमय होकर रहने से भगवान् भी सर्वगत ही हैं, इत्यादि। यह कथन व्यवहारनयका है।

निश्चयन से आत्मस्थ भगवान् हैं। अब यहां यह विचारना है कि यह व्यवहारनय का कथन बिलकुल ही (अभूतार्थ) है। तब व्यवहारनय का माना हुवा सर्वज्ञपने का सिद्धांत भी झूंठा हो जायगा। ज्ञानका स्वरूप स्वपर को जानना नहीं बनेगा। इसलिये व्यवहार नय से व्यापकज्ञान से अभिन्न होने के कारण जैसे आत्मा को सर्वगत कहा। ऐसी सर्वगत रूप ज्ञानकी योग्यता से लोक प्रमाण आत्मा के प्रदेश फैल जाना चाहिये। यदि योग्यता को निश्चयनय का विषय मानो तो द्रव्यसंग्रह के "णिच्छयणयदो असंखदेसो वा" इस सूत्राथ के अनुसार भी असंख्यात प्रदेशी आत्मा हो जाना चाहिये। अतः योग्यता का अर्थ वर्तमान परिणति नहीं बनता। योग्यता को परीक्षामुख में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के प्रकरण में स्वावरणका क्षयोपशम कहा है। सूत्रः—स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति। मुख्य प्रत्यक्ष (पारमार्थिक) के लक्षण में कहा है :—

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥

अर्थ :—सामग्री विशेष का अर्थ रत्नत्रय की पूर्णता है। इससे अखिलावरण दूर हो जाते हैं। ऐसी दूर होने रूप योग्यता से ही ज्ञान अतीन्द्रिय सर्वज्ञ सर्वगत होता है। मुख्यप्रत्यक्ष में ज्ञानावरणादि के क्षयरूप योग्यता है। अतः इससे भिन्न कोई

योग्यता हो तो वह नहीं बनती। सब जगह सामर्थ्य का अप्रतिबंध तथा कारणान्तरों की अविकलता ही कार्य की जननी है। ऐसा निश्चय करना।

यदि ऐसा ही होना था, ऐसा कहा जाय तो ऐसा ही होना निष्कारण नहीं हो सकता। कारण मानना ही पड़ेगा। पूर्वभव के भावों को (रागादिक भावकर्म) ही यदि मानियेगा तो वे किसके आधार हैं। आत्मा के या शरीर के या दोनों के।

आत्मा के अधार कहो तो शुद्ध आत्मा में तो रागादि रूप पूर्वभवके भाव रागादि या द्रव्यकर्म सभव ही नहीं हैं। वे तो नष्ट ही हो चुके। रागादि भावों की पर्यायतो क्षणिक होती है। अतः अशुद्ध आत्मा में भा पूर्वभव के भी वेकर्म नहीं है। द्रव्यकर्म कहो तो आत्मा के शरीर की सिद्धि होती है। शरीर के अकेले आधार भावों को या द्रव्यकर्मों का कहना ठीक नहीं है। ऐसा सिद्धान्त में कथन ही नहीं है। दोनों के आधार हैं ऐसा मानने पर सशरीर आत्मा की कारणपने से सिद्धि हो जाती है। अतः ऐसा ही होना था यह कहना ठीक नहीं है। क्रमबद्ध पर्याय कहो तो भी अर्थ सुसङ्गत नहीं बैठता। ऐसा ही क्रम किसने बांधा, कहां बांधा, क्यों बांधा किस विधान से बांधा, इत्यादि अनेक बाधऐ आ उपस्थित होतो हैं। बद्ध का अर्थ नियमित कहो तो, और नियमित का अर्थ निश्चित कहो तो क्रम से होना ही पर्यायों का निश्चित स्वरूप है। एक साथ दो पर्यायें नहीं होती यह सामान्य नियम है। विशेष रूप से पर्यायें असंख्यात गुणी निर्जराकी अपेक्षा तथा संक्रमण उत्कर्षण अपकर्षण को अपेक्षा कषायों के अभाव में आत्मा की विशुद्धि के तारतम्य से अक्रम रूप हैं।

अस्तु, मूर्तिक विषय में प्रवचनसार गाथा ५५ में भी ऐसा ही कहा है :—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं ।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥५५॥

टीका :—इन्द्रियज्ञानं हि मूर्त्तोपलम्भकं मूर्त्तोपलम्भ्यं च तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्त्तेन मूर्त्तं स्पर्शादि प्रधानं वस्तूपलम्भ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति परोक्षत्वादिति ॥

अर्थ —स्वय अमूर्त जीव मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ उस मूर्त शरीर के द्वारा योग्य मूर्तपदार्थ को अवग्रह करके उसे जानता है अथवा नहीं जानता है। इत्यादि।

इस कथन से आत्मा शरीर संबध को प्राप्त मूर्त्त हो रहा है। शरीर की क्रिया आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान बताती है कि इस शरीर में विद्यमान कोई चैतन्यशक्तिवाला आत्मा है। इसीका समर्थन श्री अकलङ्कदेव पचमाध्याय तत्वार्थ वार्तिक के सूत्र १६ की वार्तिक ३६ मे कहते हैं :—

अत आत्मास्तित्वसिद्धिः प्राणापानादिकर्मणः तत्कार्यत्वात्। अत आत्मनोऽस्तित्वं प्रासिधत्। कुतः? प्राणापानादिकर्मणः तत्कार्यत्वात्। यथा यंत्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति। तथा प्राणापानादिकर्मापि

क्रियावंतमात्मानं साधयति। असति तस्मिन्नप्रवृत्तेः। नाकस्मात् नियमदर्शनात्।

ऐसाही सर्वार्थसिद्धि में श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी लिखा है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में काना (पौडा) सांटा की उपमा शरीर को दी है। उस शरीर को विषय भोग मे न लगाकर धर्मसाधनों के उपयोग में लगाने की प्रेरणा की है।

श्रीपद्मनन्दिपंचविंशतिका में शरीर को कडवी तुमड़ी की उपमा दी है। कहा है कि जैसे कडवी तुमड़ी भक्ष्य नहीं है उसका कार्य एक अवश्य है कि उसे जल में डालकर समुद्र से पार हो सकते हैं, वह डूबने नहीं देगी। परन्तु उसमे छिद्रादि नहीं होना चाहिये। इसी तरह यह शरीर है। इसके अवलंबन से यह आत्मा रत्नत्रय को साधन कर ससार समुद्र से पार हो सकता है। परन्तु उस शरीर में वृद्धत्वादि रोग नहीं होने चाहिये। इस तरह शरीर की रक्षा करना भी संयमी को बताया है। लौकिक व्यवहार में—**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं** कहा है। समयसार गाथा ४०८-४०९ की टीका मे कहते हैं :—

केचिद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते। तदनुपपन्नं सर्वेषां भगवतामर्हद्देवानां शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिंगाश्रयभूतशरीरममकारत्यागात्। तदाश्रितद्रव्यलिंगत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात्॥

यहां द्रव्यलिंग शरीर के ममकार के त्याग को द्रव्यलिंग शरीर का त्याग कहा है, नहीं तो शरीर का त्याग बन ही नहीं सकता। इससे शरीर की हलन चलन आदि क्रियाएँ भी प्रमाद सहित होने से बंध का कारण

सिद्ध होती हैं। प्रतिक्रमण आलोचना प्रत्याख्यान के ४७ भंगों में शरीर के भंग भी लगाये हैं। कर्मचेतना कर्मफलचेतना का संबंध शरीर से है। "तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः।" इस तत्वाथ सूत्र में एक साथ एक ही आत्मा के ४ शरीर तक कहे हैं। इस तरह स्वाध्याय करने से आप को स्वय ही यह विदित हो जायगा कि शरीर और आत्मा का क्षीरोदक की तरह सबध है। यदि ऐसा सबंध जो नहीं स्वीकार करते हैं उनको श्रीअमृतचद्र स्वामी समयसार गाथा ४६ की टीका में समझाते हैं :—

तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेद दर्शनात् त्रस-स्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बंधस्याभावः॥

इस तरह से इस प्रश्न का समाधान स्वयं होजाता है। तब भी जो शरीर को जड़ चमडा आदि कहते रहेंगे तो रागद्वेषादि को भी परमार्थ से भिन्न कहना पड़ेगा तो मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

श्री वर्णीजी का दृढ़ निश्चय

मैं दूसरों की बात क्या कहू, मुझे तो स्वय अपने पक्व-पान के सदृश वृद्ध शरीर से दृढ़निश्चत हो गया कि निमित्त भी कोई चीज है। मेरी योग्यता (पुरुषार्थ) जैसा कि पहले खाता पीता था—बोलता था— मीलों चला जाता था, वैसा ही करने को कहती है। परन्तु शरीर रोकता है—एक रोटी भी पचाने की शक्ति घटती जाती है। घंटों बोलने की शक्ति भी अब ह्रास हो गई है। थोड़ा बोलते ही खांसी परेशान

कर देती है। १०० हाथ चलते ही श्वास चलने लगती है। चक्कर आ जाता है। शरीर की अवस्था ही ढीली पड़ गई। रक्त कम हो गया। इन सब बातों से मुझे यह निर्णय हो गया कि कर्म और देह कोई चीज है। कायवाङ्मनः कर्मयोगः सूत्र में काययोग भी तो एक आत्मा की काय के सबध से चेष्टा विशेष है।

अतः संसार का प्रारंभ देह ही से है। देह से इंद्रियां इंद्रियों से विषयकषाय, कषाय से कर्म बंध, कर्म से नोकर्म शरीरादि तथा शरीर से इद्रियां। इसी तरह का चक्र चल रहा है। अब आत्मा और शरीर के संवध में कोई संदेह को स्थान नहीं रह जाता है। इस मनुष्य देह को पाकर ब्रह्मचर्य सयम की आराधना शीघ्र कर लेनी चाहिये। वक्त्र वक्ति हि मानसम् यह नीति भी शरीर और आत्मा के संबंध में चरितार्थ है। समाधिशतक में तो स्पष्ट हा कहा है:—

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्त्तितात् ॥
वायोः शरारयंत्राणि वर्त्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥

इसी से यह भी सिद्ध है कि शरीर से ग्रहण किया हुवा अहार जीव के द्वारा उदराग्नि से सात धातु उपधातु रूप परिणमा दिया जाता है। ऐसा ही समयसार में कहा है, जीव संवध विना यह कार्य नहीं हो सकता। इस विषय को प्रवचनसार की ११७-१७४ गाथायें स्पष्ट बता रही है। अतः जीवाश्रत शरीर है। शरीराश्रित जीव है। लक्षणोंसे भिन्न भिन्न है। एक होते हुवे भी भेदरूप ही श्रद्धान करना चाहिये, वही ज्ञान मोक्षका कारण है।

चतुर्थ प्रश्न :—क्या व्यवहार निरपेक्ष निश्चयनय पूर्ण वस्तुका प्रतिपादन करने में समर्थ है? और क्या व्यवहारनय से

किया हुवा प्रतिपादन सर्वथा असत्यार्थ है ?

समाधान :—जैनागम का अनेकान्त ही प्राण माना गया है। अनेकान्तको जड़ (मूल) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय दोनों हैं। द्रव्यार्थिकनय के निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों ही प्रतिपादक हैं। इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय के निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों ही प्रतिपादक है। वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है। इन्हीं नयोंके भेदों प्रभेदों से वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन होता है। नयो का कथन करना श्रुतज्ञान का विकल्प ही तो है।

एक नयका सापेक्ष प्रतिपादन ही वस्तु स्वरूप का ज्ञापक है। निरपेक्ष प्रतिपादन ही एकान्त है। वह अप्रमाण है—मिथ्या है। सो ही कहा है—तत्कथमिति चेदुच्यते—प्रमाणनयार्पणाभेदादेकांतो द्विविध :—सम्यगेकांतो मिथ्यैकांत इति। अनेकांतो द्विविध :—सम्यगनेकांतो मिथ्यानेकांत इति॥ तत्र सम्यगेकांतो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकांतः। तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्यानेकांतः। तत्र सम्यगेकांतो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकांतः प्रमाणं। नयार्पणादेकांतो भवत्येकनिश्चयप्रवणत्वात्। प्रमाणार्पणादनेकांतो भवत्यनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्। यद्यनेकांतोऽनेकांत एव स्यान्नैकांतो भवेत। एकांताभावात्तत्समूहात्मकस्य तस्याप्यभावः स्यात्। शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत्। तदविनाभावि-

विशेषनिराकरणादात्मलोपे सर्वलोपः स्यात् ।

ऐसा श्रीअकलंकदेव तत्वार्थवर्तिक की प्रमाणनयैरधिगमः सूत्रकी व्याख्यामें कहते हैं। इसका संक्षेप अर्थ यह है कि, एकांत अनेकांत दोनों ही दो दो प्रकार के हैं। सम्यग् व मिथ्या। सम्यगेकांत तो नय है। हेतुविशेषरूप सामर्थ्य की अपेक्षा रखनेवाला प्रमाण प्ररूपित अर्थ के इकदेशका कथन करने वाला सम्यग् एकांत है। एकस्वरूपके निश्चय करने से अन्यसपूर्ण धर्मोंके निराकरण करने में समर्थ मिथ्या एकांत है। एक वस्तुमें सप्रतिपक्ष अनेक धर्मस्वरूपोंका निरूपण करनेवाला युक्ति आगमों से अविरुद्ध सम्यग् अनेकांत है। तत् अतत् स्वभाव रूप परमार्थ से शून्य कल्पित अनेकात्मक वचनों का विज्ञान सोही मिथ्या अनेकातहै। सम्यक् अनेकांत प्रमाण है। नय की विवक्षा से अनेकात एकांत होता है। एकनिश्चय करने में समर्थ होने से। प्रमाण की अपेक्षा से अनेकांत अनेकांत होता है अनेक निश्चय का आधार होने से। अनेकांत अनेकांत ही हो। कथचिद् एकान्त न हो (अर्थात् सप्तभगी न बनै) तो एकांत के अभाव से एकांतसमूहात्मक अनेकांत का भी अभाव हो जावेगा। शाखादि के अभाव मे वृक्षादि के अभाव की तरह। एकांत के अविनाभावी विशेषों के निराकरण से उस एकात का लोप होजानेसे सर्व लोप होजावेगा। इसतरह सम्यक् एकात ज्ञापकपक्ष ही मिटजाने से वस्तुस्वरूप ज्ञाप्य नहीं ठहरता। ज्ञापक ज्ञाप्यसबध भी निमित्तनैमित्तिक सबन्ध है।

नय ज्ञापक हेतु हैं। इनमे से यदि एक भी नय को छोड़ देतेहैं तो निरपेक्षपने का प्रसङ्ग आताहै। व्यवहारनय निश्चय-नयसे भिन्न है। ऐसा नहीं है कि निश्चयनय का प्रतिपाद्य भेदरूप कथन ही व्यवहारनय हो, शेष सब व्यवहाराभास

हो। इस लक्षण में तो दोनों नय एक ही सिद्ध हो जाते हैं। इसीको यहां निर्णय करना है।

श्री अमृतचंद्रस्वामी पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में लिखते हैं—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यंधसिन्धुरविधानम् ॥
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

अनेकांत सकलनयों के दुरभिप्राय के विरोध को दूरकरने वाला है। परमागमका प्राण है। जैसे जन्मांधों ने हस्ती के एक एक अङ्ग में हस्ती की कल्पना की वह ठीक नहीं है। ऐसे यथार्थ वस्तुके प्रतिपादक अनेकात को मैं प्रणाम करता हूँ। इस अनेकात का निर्णय श्रीसमतभद्रस्वामी ने आप्तमीमांसा आदि स्तोत्र ग्रन्थों मे अच्छी तरह से किया है।

बहुधा प्राणियों ने आजतक अनेकात का स्वरूप यथार्थ जाना ही नहीं। अनादिकाल से एकेन्द्रियादिपर्यायों मे निवास किया अतः नयका स्वरूप जाना ही नहीं। असैनी तक तो सामर्थ्य ही नहीं थी। जब सैनी पचेन्द्रिय हुये उस पर्यायमें भी देशना नहीं पाई। अतः वस्तुस्वरूप का नयसापेक्ष कथन सुना ही नहीं। मिथ्यात्व मे अब तक अनन्तकाल वीत गया। ज्ञान मिथ्याज्ञान ही रहा। अब कोई शुभयोग आया है यह मनुष्यपर्याय, उच्चकुल, इन्द्रियों की पूर्णता, सुबुद्धि आदि शुभ निमित्त आकर मिले हैं। अब काललब्धि के आने से देशनालब्धि पाई है। सद्गुरु का उपदेश श्रवण किया, कालकी देशना से स्वयप्रबुद्ध हो गया, उन्हीं जीवों के करणलब्धि होने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। ऐसा ही समयसार गाथा १७—१८ की टीका में कहते हैं :—

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्माज्ञानं नित्यमुपास्त एव कुतस्तदुपास्यत्वेना नुशास्यते इतिचेन्न, यितो न खल्वात्मा

ज्ञानतादात्म्येऽपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते स्वयंबुद्ध-बोधित-बुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः । तर्हि तत्कारणा-त्पूर्वमज्ञान एवात्मा नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वादेवमेतत् ।१७-१८।

सोया हुआ यह जीव यातो स्वयं जग जावे अन्यथा कोई दूसरा जगावे तब जागे। इसीतरह यह जीव स्वयं (पूर्व संस्कारों से) ज्ञानी बन जावे अथवा गुरूपदेशादि कारणों से ज्ञानी बन जावे, तब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एक साथ होवे । उसी सम्यग्ज्ञान से वस्तुस्वरूप को समझा तब नय सम्यग् हुवे, एकान्त का अभाव हुआ । वही भेदज्ञान संवर निर्जरा मोक्ष का साधक है । भेदज्ञान से तात्पर्य रत्नत्रय से है ।

जिनके सम्यग्दर्शन नही है उनका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। अतः एकान्तरूप है। व्यवहाराभास—निश्चयाभास है । ऐसे मिथ्या दृष्टि पुरुष जिनवाणी का कथन करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, तो आगम के अनुसार सापेक्षनय द्वारा वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने से उनके वचन दूसरों के लिये सम्यग्ज्ञान के करण हो जाते हैं। परन्तु वह वक्ता द्रव्यलिंगी एकान्ती मिथ्याज्ञानी ही है। अतः अभी तक हमने नय-सामान्य को ही नहीं समझा, विशेष का तो कहना ही क्या है। इस लिये जो ऐसा कहते है कि व्यवहार नय तो सबके अनादि से है, यह बात कितनी मिथ्या है । पंचाध्यायी में "अनयोर्मैत्री प्रमाणम्' से दोनों के कथन को ठीक बताया है । हाँ ! पक्ष दोनों ही है । ज्ञानी जीव दोनों ही पक्षों को जानता है, ग्रहण (हठ) नहीं करता है ।

दो नय दो नेत्र

प्रवचनसार में दोनों नयों को नेत्रों की उपमा दी है। ज्ञेयाधिकार ११४ गाथा की टीका में लिखते हैं :—

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात् तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल-चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। ....
तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं। द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥११४॥

सम्पूर्ण वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। उन दोनों को देखने के लिये दो नेत्र हैं। एक द्रव्यार्थिक—दूसरा पर्यायार्थिक। उनमें से एक चक्षु का अवलोकन एक देशावलोकन (नय) है। दो चक्षु का अवलोकन सर्वावलोकन (प्रमाण) है। इसलिये सर्वावलोकन मे द्रव्य के अन्यत्व अनन्यत्व में कोई विरोध नही है।

यहाँ निश्चयनय व्यवहारनय ये दोनों नेत्र हैं। इन से आत्मा का अवलोकन करना चाहिये। तभी पूर्ण वस्तुस्वरूप के अनुभवी बन सकते हैं। जैसे मुख मे दो नेत्र होते हैं। एक नेत्र को बन्द कर लेने से वस्तु स्वरूप पूरा नहीं हो सकता। दोनों नेत्र खोल कर जानना देखना चाहिये। श्रीअमृतचंद्र स्वामी उक्त च करके प्राचीन गाथा को लिखते हैं :—

जइ जिणमयं पवजह तो मा ववहारणिच्छये मुयह ॥
एकेन विणा छिजइ तित्थं अरणेण पुण तच्चं ॥

यदि जिन मत को धारण करना चाहते हो तो व्यवहार निश्चय दोनो नयों को मत छोड़ो। व्यवहार के विना तीर्थ (उपदेश) छूट जाता है। निश्चयनय के विना तत्व छूट जाता है।

दोनों नयों के परस्पर विरोध को परिहार करने के लिये स्यात्पद समर्थ है। सो ही कलश में कहते हैं :—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के।
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमोक्षन्त एव ॥४॥

अर्थ :—निश्चय और व्यवहार इन दो नयों में विषय के भेद से परस्पर विरोध है, उस विरोध का नाश करने वाला स्यात्पद' से चिह्नित जो जिन भगवान का वचन है, उसमें जो पुरुष रमते हैं, अभ्यास करते है, वे अपने आपही मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमन करके इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तत्काल ही देखते हैं। वह समयसार रूप शुद्ध आत्मा नवीन उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु पहले कर्मों से अच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्तरूप हो गया है और वह सर्वथा एकान्त रूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है।

दोनों नयों का एक साथ कथन तथा क्रम से कथन कैसा होता है इस को १६, १७, १८ कलश में कहते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥

अर्थः—आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्र तीन स्वभावों से अनेक तथा स्वयं एक अखण्ड होने से मेचकामेचकरूप एकानेकरूप एक साथ प्रमाण दृष्टि से है, दर्शनज्ञानचारित्र तीनों से परिणत होने से एक ही आत्मा अनेक मेचक व्यवहारनय से है। तथा व्यक्त एक ज्ञायक ज्योतिसे सर्वविभावों के दूर होने से अमेचक परमार्थनयसे है।

इस प्रकार समयसार में सब प्रकरणों में निश्चयनय और व्यवहारनय का कथन स्वयं आचार्य स्पष्ट करते ही गये हैं। कहीं भी विरोध व संदेह को जगह नहीं रहने दी है। सब के निचोड़ रूप अंत में २७२-२७३-२७४ कलश इन्हीं उभयनयों के एकसाथ प्रमाण कथन के वाचक हैं। अंत में जहां उपायो—पेयभाव का दिग्दर्शन कराया है, वहांभी स्पष्ट रूपसे व्यवहार निश्चय का कथन किया ही है। तद्यथा :—अतोऽस्यात्मनो

ऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात्संसरतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाक-प्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यांतर्मग्न-निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्षमकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकल-कर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति ॥

अर्थ—इसलिये अनादिकालसे मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र द्वारा स्वरूपसे च्युत होने के कारण संसार में भ्रमण करते हुए सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहार सम्यग्दर्शनज्ञान-

चारित्र के पाक के प्रकर्ष की परंपरा से क्रमशः स्वरूप में स्थापन किये जाते आत्माके अन्तर्मग्न जो निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप विशेषता द्वारा साधकपने से परिणत होता हुवा तथा परमोत्कृष्ट दशा को प्राप्त रत्नत्रय को अतिशयता से हुये सकल कर्म के क्षय होने से प्रज्वलित हुवे अस्खलित निर्मल स्वभाव भावपने से सिद्धरूप से स्वय परिणमता हुवा एक ज्ञानमात्र ही उपाय उपेय भावको साधता है।

इतना उभयनयों का स्पष्ट कथन होने पर भी शंकाकार का यह कहना कि व्यवहारनय का प्रतिपादन असत्यार्थ है, यह कथन ठीक नहीं है। ये शब्द उच्चारण करना ही गलत है, व्यवहारनय असत्यार्थ है, परन्तु उसका प्रतिपादन असत्यार्थ नहीं है। निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार असत्याथ है, परन्तु निश्चयनय का प्रतिपादक व्यवहारनय ही है। यदि वचन या भेदकी दृष्टि न हो तो निश्चयस्वरूप अभेदरूप ही मिट जावे। जैसा कि कहा है:—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेउं ॥
तह ववहारेण विणा परमत्थुव एसणमसक्कं ॥ ८ ॥

अर्थ: जैसे अनार्य (म्लेच्छ) जनको अनार्यभाषा के बिना किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण कराने के लिये कोई समर्थ नहीं है। उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश देना अशक्य है। इसी अर्थ को श्रुतकेवली के अर्थ करते हुवे कहा है कि जो सब श्रुतज्ञान को जानता है सो श्रुतकेवली है। ऐसा व्यवहार-नय तो ज्ञान ही है। वह ज्ञान क्या आत्मा को छोड़ कर अन्य-पदार्थ है? अज्ञान नहीं है। इस तरह व्यवहार का प्रतिपाद्य भी आत्मा ही है। देखो गाथा ९-१० की टीका:—

टिप्पणी:—असत्यार्थ का या व्यहार का अर्थ है कि दो द्रव्यों के सबंध से उत्पन्न हुवा भाव। यह भाव अकेले में नहीं होता।

व्यवहारनय प्रयोजनवान् है।

अथ च केषांचित्कदाचित्सोऽपि प्रयोजनवान्। यतः—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ॥
ववहारदेसिदो पुण जेदु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

अर्थ :—जो शुद्ध परमभावके देखने वाले हैं, उन्हें तो शुद्ध आत्मा का उपदेश करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है। और जो जीव अपरमभाव में अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान चारित्रके पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके हैं (साधक अवस्था में ही स्थित हैं) वे व्यवहारनय के द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

यहां अपरमभाव से तात्पर्य चौथा पाचवॉ छठा गुणस्थान-वर्ती जीवों से है। हम अभी अपरमभाववालों की श्रेणी में ही तो हैं। इससे हम सब को व्यवहार नय जानना प्रयोजन-वान है। सो ही कलश मे कहा है —

व्यवहरणनयः स्याद्यपि प्राक्पदव्या -
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं।
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित्। ॥५॥

अर्थ :—यद्यपि व्यवहारनय पहली पदवी में अपना पैर रखने वालों को हस्तावलम्बन है, यह खेद की बात है, तथापि परमार्थ पररहित चिच्चमत्कार का अंतरग में अवलोकन करने वालों को यह व्यवहार नय कुछ प्रयोजनवान नहीं है।

यह कथन तो जीवा जीवाधिकार की गाथा का है, सो तो शुद्ध

जीवाजीव के स्वरूप को कथन करने वाला है। इस कथन का प्रतिपादक भी व्यवहारनय है। परन्तु इतना ही मात्र तो जीव अजीव द्रव्य नहीं हैं, पुन्य पाप रूप भावों से विशिष्ट कर्त्ता कर्म रूप का ज्ञान से परिणमन करनेवाला, आस्रव बंधावस्था को प्राप्त, फिर कैसा संवर निर्जरा को धारण करता हुवा, मोक्ष को प्राप्त होता हुआ, सर्वविशुद्ध ज्ञान को धारण करता है। अतः सभी अधिकार व्यवहारनय और निश्चयनय के द्वारा हम अपरमभाववालों को समझाते हैं। ऐसी वस्तु की व्यवस्था है।

इस समयसार की रचना भी समयसार को न जाननेवाले अथवा जाननेवाले पुरुषों के लिये "स्व परयोरनादिमोहप्रहाणाय" हुई है। इस तरह इस ग्रथ का बहु भाग व्यवहारनय का कथन करने वाला है। अतः व्यवहारनय असत्यार्थ होने से बहु भाग रूप गाथायें भी असत्यार्थ हो जावेगी। तो आचार्यश्री का परिश्रम ही व्यर्थ हो जावेगा। अन्तिम अधिकार मे गाथा ३४९ से ३५३ तक की शिल्पी के दृष्टांत की व्यवहारनय की दृष्टि से कर्ताकर्म-भोक्ताभोग्य का कथन करने वाली तथा अन्य भी गाथायें निष्प्रयोजन हो जावेंगी। गाथाएं यथार्थ ठीक कथन को कर रहीं हैं। यदि इन गाथाओं को छोड़ देवें तो एकान्त कथन हो जाय, जो कि प्रेक्षावानों को अनादरणीय होगा। परिणति ही सुधारना है। ज्ञान से परिणति सुधरती है। अतः रागद्वेषपरिणति को मिटाने के लिये हमें व्यवहारनय-व निश्चयनय से कथित साधक अवस्था की बहुत जरूरत है।

रागद्वेष परिणति के मिटाने का क्रम

इह आत्मा जब तक स्वयं भेदविज्ञान रूप परिणति नहीं करता, तब तक वह दुःखों से निवृत्ति नहीं पा सकता। चाहे जितना बाह्य में पाठ पढ़े, चाहे जितना गुरु उपदेश श्रवण करे। भेदविज्ञान रूप परिणति का नाम व्यवहार तथा निश्चय दोनों

ही सम्यग्दर्शन है। क्योंकि देव शास्त्र गुरु तथा सात तत्वों के एवं स्वपर के श्रद्धान में आत्मश्रद्धान गर्भित है, तथा आत्मश्रद्धान में देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान अंतर्भूत है। ऐसा सम्यग्दर्शन हो जाने पर भेदविज्ञान के ही बल से पाप प्रवृत्ति को छोड़कर पुण्य प्रवृत्ति स्वीकार कर श्रद्धा मे दोनों को एक समान मानता हुआ दोनो ही परिणतियों को छोड़े।

अतः अव्रतों का प्रथम त्याग कर व्रती बनकर परमपद में स्थित होने पर व्रतादिक के विकल्प भी छूट जाते हैं। यही परमात्मा बनने का उपाय है। इसी तरह के क्रम से अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान आदि का त्याग होता चला जाता है। इस से व्यवहार निश्चय दोनों एक साथ हैं।

सो ही समाधितत्रशतक में श्रीपूज्यपादस्वामी ने कहा है:—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ॥
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥
तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्त्यात्मानमात्मनि ॥
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥
अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ॥
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥
अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ॥
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परम पदमात्मनः ॥८४
यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ॥
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥
अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ॥
परात्मज्ञानसंपन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

ऐसा ही कथन ज्ञानार्णव में, पद्मनंदिपचविंशतिका आदि ग्रन्थों में आया है। इसलिये अपनी बुद्धि को आगम के अनुकूल बनाओ। कहा भी है :—

आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा। आगमचक्खू साहू आदि

निश्चय व्यवहार दोनों एक साथ हैं। इसका खुलाशा :—

जैसे कालद्रव्य है सो निश्चय से पृथक् पृथक् अणुमात्र है, असख्यात है। उसी काल के व्यवहार मे भूत, भविष्यत्, वर्तमान ये भेद करते हैं। जब ये भेद होते हैं, तभी यह निश्चय होता है कि इन भेदों का आधारभूत एक स्वतंत्र कालद्रव्य है। इस तरह कालद्रव्य में निश्चय व्यवहार एक साथ हैं। उसी तरह सभी स्थानों पर एक साथ हैं। अथवा दूसरा दृष्टान्त लीजिये कि एक संग्रहनय है :—

सग्रहनय सामान्य से एक है। परन्तु विषय के भेद से दो भेद रूप है। परसग्रह $_1$ अपरसंग्रह $_2$। भेदों का अभेद ग्रहण परसग्रह है। उसी परसंग्रह मे अविरोध से भेद करना अपरसग्रह है। यही अपरसंग्रह व्यवहार है। भेद करना तो व्यवहार ही है। परन्तु भेदों मे जब फिर भेद करते हैं। तब भेदों का आधार भेदसग्रह बन जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यवहारनय ही तो संग्रह बनता गया। अतः भेदों का नाम व्यवहार तथा आगे के भेदों की अपेक्षा वे ही संग्रहनय कहलाते हैं। यह सिद्धातग्रन्थों में स्पष्ट विधान है। इसी कथन से यह निर्णय हो जाता है कि निश्चयनय (संग्रह) और व्यवहारनय भेद दोनों एक साथ हैं। तथा भेददृष्टि ही तो विशेषात्मक व्यवहार है। एवं अभेद-दृष्टि तो सामान्यात्मक निश्चय है। इस तरह दोनों नयों का प्रमेय सामान्य विशेषात्मक भेदाभेदात्मक तदतद्रूप नित्या-

नित्यात्मक एकानेकात्मक वस्तु युगपत् है। इन के द्वारा कथन क्रम से होता है। प्रमाणदृष्टि से युगपत् भी कथन हो जाता है। "सममात्मा प्रमाणतः" कलश में कहा ही है।

प्रमाण सप्तभंगी भी श्रीअकलंकदेव ने बताई है, वह सब धर्मों को एक साथ ग्रहण व कथन करती है। इसका कथन श्री राजवार्तिक में विस्तार से लिखा है। निश्चयनय प्रथम तथा व्यवहारनय पश्चात् यह सब विवक्षा भेद है। विवाद का विषय नहीं है। इस तरह से ही है ऐसा एकान्त सिद्धांत भी नहीं बना लेना चाहिये। जब हम पराश्रित व्यवहार कहते हैं एवं स्वाश्रित निश्चय कहते हैं तब भी दोनों एक साथ है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा न कार्य है, न कारण है, स्वाश्रित है। उसी एक समय में शुद्ध या अशुद्ध पर्याय अनेक निमित्ताकारणों की अपेक्षा कार्य भी है, कारण भी है। अतः पर्यायदृष्टि से पराश्रित है। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। पर्याय क्षणिक है, कार्य है। शुद्ध पर्याय में स्वयं अनंतर पूर्वपर्याय उपादान कारण तथा अगुरुलघुगुण काल, द्रव्य, क्षेत्र, भाव, वीर्य आदि अनेक गुण सहकारी कारण हैं। अशुद्ध पर्याय मे भी स्वयं अनतर पूर्वपर्याय उपादान कारण तथा अगुरुलघुगुण काल द्रव्य क्षेत्र भाव वीर्य आदि अनेक गुण तथा कर्म एवं बाह्य पदार्थ भी निमित्त कारण हैं। ऐसा भी कथन यही पुष्ट करता है कि निश्चय व्यवहार एक साथ है। जब व्यवहार का अर्थ कारण करते हैं एवं निश्चय का अर्थ कार्य करते हैं तब भी साध्य साधन रूप से एक साथ भी है तथा प्रथम व्यवहार फिर निश्चय ऐसा क्रम भी है। "जो सत्यारथ रूप से निश्चय कारण सो विवहारो" ऐसा छहढाला में स्पष्ट उल्लेख है। हां स्वानुभव में दोनों नय दूर चले जाते हैं। वस्तु

निर्विकल्प स्वसहाय है। अतः इन नयों के विकल्पों में अपने ज्ञान को अटकाना ठीक नहीं है। इसी चर्चा में समय न गमा कर आगे लक्ष्य की तरफ उपयोग शुद्ध बनाने का उद्यम करना चाहिये। अत ये सापेक्ष नय मोक्ष के प्रतिपादक हैं। हे भैया, सर्वत्र एक ही भेद रूप अर्थ व्यवहार का मानकर विवाद न करना।

व्यवहार नय अभूतार्थ है।

अभूतार्थ शब्द का भी हमें एक बार विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि जिस से व्यवहार का ठीक अर्थ समझ में आ जाय। और उसकी पक्ष से बचें। तथा आगे हेय समझ कर अपने स्वरूप पर आरूढ होवें। समयसार गाथा ११ की टीका में स्पष्ट लिखा है:—व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति। शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति। तथा हि यथाप्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोऽनुभवितारः पुरुषाः पङ्कपयसोर्विवेकमकुर्वंतो बहवोऽनच्छमेव तदनुभवंति। केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयसोर्विवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकाच्छस्वभावत्वादच्छमेव तदनुभवंति। तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदयाःप्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति। भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकारा-

विर्भावितसहजैकज्ञायकस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति । तदत्र ये भूतार्थमाश्रयंति त एव सम्यक् पश्यंतः सम्यग्दृष्टयो भवति, न पुनरन्ये कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्यातः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः ॥११॥ अथ च केषांचित्कदाचित्सोऽपि प्रयोजनवान् । यतः-

अभूतार्थ शब्द की व्युत्पत्ति भूधातु से भूतकाल का त प्रत्यय करके व निषेधवाची अ जोडने से अभूत बना। अभूत है अर्थ (अभिधेय) जिसका ऐसा अभूतार्थ नय है। अर्थात् द्रव्य ऐसा कभी नहीं हुवा जैसा हो रहा है। द्रव्य (आत्मा) तो एक शुद्ध बुद्ध ज्ञायकस्वभाव निर्मम टङ्कोत्कीर्ण है। पर्याय मे अनेक अशुद्ध अबुद्ध ममत्ववाला बैश्वरूप्य हो रहा है। सो जिन्होंने प्रत्यक् (साक्षात्) आत्मदर्शनकर लिया है उनके लिये व्यवहार नय प्रयोजनवान् नही है। परन्तु (परपरा) जिन्होंने आत्मदर्शन किया है। अथवा नहीं किया है (आगे करेंगे) उनके लिये प्रयोजनवान् है। यहा टीका में व्यवहारनय के साथ सर्व शब्द लगाया है। तथा शुद्धनय के साथ एक शब्द लगाया है। इन से ही अर्थ निकल आता है कि व्यवहार नय अकेला नहीं है, सब का मिश्रण है। अशुद्ध स्वरूप लिये स्वय अशुद्ध का वाचक है। निश्चयनय अकेला है एक है मिश्रण नहीं है, अतः शुद्धस्वरूप लिये स्वय शुद्ध का (यथार्थका) वाचक है। जहां अभूत अशुद्ध का कथन है अर्थात् वस्तु (द्रव्य) स्वभाव से वैसा नहीं है जैसा का कथन है। इसलिये व्यवहार असत्यार्थ-अभूतार्थ है। पर्याय से मिश्रणरूप सत्य है। वैसा ही असमान जातीयरूप परिणमन है। वह पर्याय भी आगे पूर्ण शुद्ध हो जाती है अतः

उस दृष्टि से मिश्रण असत्यार्थ है। परन्तु पुन शुद्ध का अशुद्ध नहीं होता अतः निश्चय से किसी भी रूप में अभूतार्थ नहीं है।

और भी दृष्टान्त से खुलासा समझिये। तृषातुर कुछ पुरुष पिपासा शांत करने को जल के पास गये। वह जल कीचड़ मिश्रित मलिन था सो उन्होंने बहुतों ने कीचड़ पृथग् न कर उस अस्वच्छ जल ही को पी लिया, कष्ट पाया। कोई चतुर थे, उन्हों ने चतुराई से कतक को चूर्णकर जल में डाल दिया—उससे पंक तत्काल नीचे बैठ गया। स्वच्छ जल कर्दम रहित हो गया। इस तरह अपने पुरुषार्थ स सहज स्वच्छभावव्यक्त जल को ही वे पीकर पिपासा शांत करते हैं, निरोग होते हैं। इसी तरह प्रबल कर्म से तिरोहित सहज एक ज्ञायक स्वाभाव वाली आत्मा के अनुभवी पुरुष आत्मा और कर्म का विवेक न कर व्यवहार मे ही मोहित (अज्ञान) हृदय वाले चमकते हुए नानाभाव वाले अशुद्ध आत्मा को ही अनुभव करते हैं। यथार्थदर्शी पुरुष अपनी बुद्धि से डाली हुई शुद्धनय के अनुसारी ज्ञान से उत्पन्न आत्मा और कर्म के भेदपने से स्वपुरुष का आकार जिस मे प्रगट है ऐसे सहज एक स्वभाव से चमकते हुए एक ज्ञायक भाव वाले शुद्धात्मा को ही अनुभव करते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं।

यहाँ दृष्टांत दार्ष्टान्त दोनों ही अभूतार्थ का अर्थ प्रगट करते हैं। दृष्टान्त में अनच्छ पद है तथा अच्छ पद हैं। दार्ष्टान्त में प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्य पद है तथा प्रद्योतमा-नैकज्ञायकभाव पद है।

जल में अस्वच्छता मिश्रण से आई है। अतः ऐसा परिणमन अभूतार्थ है। अभूतार्थ माने यह नहीं कि अस्वच्छ जल कोई चीज ही न हो। तथा स्वच्छता जल की

सहजावस्था है, एक रूप है, वह भी कतक डालने से पंक के अभाव से उसी में से उसी में आई है। वह सत्यार्थ है। भूतार्थ है।

इसी प्रकार प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्य कर्मों के मिश्रण से तिरोहित आत्मस्वभाव के हो जाने से हुआ है। वह परिणमन अभूतार्थ है। ऐसी बात नहीं कि भाववैश्वरूप्य परिणमन कुछ भी तत्काल सत् न हो, सत् है ही। तथा शुद्धनय से जब कर्म के विवेक (भेद) से सहज एक ज्ञायक स्वभाव के हो जाने से प्रद्योतमानैकज्ञायकभाव सत्यार्थ है, भूतार्थ है। वह कभी फिर मिटता नहीं है। सहज एक ज्ञायकस्वभावता कर्मों के भेद से उसी में से उसी में आई है। सो निश्चय करना। ऐसा अभूतार्थनय भी अपरम भाव में स्थितों के लिये प्रयोजनवान् है। ऐसा व्यवहारनय आप ही स्वयं छूटता जाता है। परिणति तो आगे शुद्ध हो। शुद्ध होने न पावे और छोड़ देवे तो फिर ज्यों को त्यों अज्ञानी ही रहा। अतः श्री निर्विण्ण गुरु दया करके बार-बार समझाते हैं कि तू इस व्यवहार में मोहित मत रहना। मत अटक जाना—तेरा स्वरूप तो और ही है, उसी को समझ। ऐसे पात्र की अपेक्षा यह कथन ठीक बैठ जाता है। इस तरह बुद्धिमान् वही है जो इन में न अटके।

निश्चय—निश्चयनय — व्यवहार—व्यवहारनय।

निश्चय और निश्चयनय दो चीज हैं। निश्चय तो वह है कि जिस समय जो वस्तु का परिणमन है, उस समय उसी रूप वस्तु का कथन करना निश्चय है। तथा वस्तु का कभी न मिटने वाले सत् रूप अनादि अनत स्वभाव का कथन करने वाला निश्चयनय है। इसी तरह व्यवहार और

व्यवहारनय दो चीजें हैं। वस्तु किसी भी रूप परिणम रही है। उस के अन्य के संबन्ध से अन्य स्वरूप परिणमन बताने को व्यवहार करते हैं। तथा पर का आश्रय करके वस्तु के कुछ परिणमनों (पर्यायों) को वस्तुस्वरूप कथन करने वाला व्यवहारनय है। तथा व्यवहारनय शब्दों के द्वारा निश्चय का भी प्रतिपादन करता है।

व्यवहारनिरपेक्ष निश्चयनय अर्थात् निरपेक्ष नय नयाभास है। उस से वस्तु स्वरूप का कथन नहीं हो सकता। वस्तु स्वरूप दोनों नयों का विषय है तथा अनुभव उन से भी अतीत है।

पंचास्तिकाय गाथा २० की टीका में लम्बे बाँस का दृष्टान्त दिया है :—

कि च:—यथा द्राघीयसि वेणुदण्डे व्यवहिताव्यवहित-विचित्रकिर्म्मीरिताधस्तनार्धभागे एकान्तव्यवहितसुवि-शुद्धोर्ध्वार्द्धभागेऽवतारिता दृष्टिः समन्ततो विचित्र-चित्रकिर्म्मीरिता व्याप्तिं पश्यन्ती समनुमिनोति तस्य सर्वत्राविशुद्धत्वम्। तथा क्वचिदपि जीवद्रव्ये व्यवहिता-व्यवहितज्ञानावरणादिकर्मकिर्म्मीरताखचिताधस्तनार्द्ध-भागे एकान्तव्यवहितसुविशुद्धबहुतरोर्ध्वार्द्धभागेऽवतारिता बुद्धिः समन्ततो ज्ञानावरणकर्मकिर्म्मीरता-व्याप्तिं व्यवस्यन्ती समनुमिनोति तस्य सर्वत्राविशुद्धत्वम्। यथा च तत्र वेणुदण्डे व्याप्तिज्ञानाभासनिबन्धनविचित्र-किर्म्मीरतान्वयः। यथा च क्वचिज्जीवद्रव्ये ज्ञानावरणादि-

कर्म्मकिम्मीरतान्वयः। यथैव च तत्रैव वेणुदण्डे विचित्र-चित्रकिम्मीरताऽभावात्सुविशुद्धत्वम्। यथैव च क्वचि-ज्जीवद्रव्ये ज्ञानावरणादिकर्मकिम्मीरितान्वयाभावादाप्ता-गमसम्यगनुमानातीन्द्रियज्ञानपरिच्छिन्नात्सिद्धत्वमिति ॥

इस लम्बे बाँस मे आधा भाग चित्रित है, तथा आधा बाँस शुद्ध है, परन्तु आवृत है। इन दोनों भागों में से भिन्न रग के चित्रों से चित्रित भाग मात्र ही को बाँस कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इसमे ऊर्ध्वभाग छूट गया। यदि ऊर्ध्वभाग का कथन किया जाता है तब अधोभाग छूट जाता है—तब भी पूरे बाँस का प्रतिपादन नहीं हुआ। इस दृष्टान्त का अर्थ स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार सभी द्रव्य खासकर जीवद्रव्य त्रिकाल की गुणपर्यायों का समूह है। जीव की ससारपर्याय मात्र का वर्णन अधूरा है। आगे की सिद्धपर्याय का कथन भी अधूरा है। अथवा द्रव्य दृष्टि का ही कथन करना पर्याय को छोड़ देना ठीक नहीं है। पर्याय का ही कथन करना द्रव्य स्वरूप को छोड़देना भी ठीक नहीं है। ये सब आभास है। जहाँ निश्चय है वहीं व्यवहार है। जहाँ व्यवहार है वहीं निश्चय है। इन का परस्पर वाच्यवाचक या द्योत्यद्योतक अथवा साध्यसाधक सबन्ध है।

व्यवहारनय—उपचार।

न्यायशास्त्रों मे कहा है कि "**प्रयोजने निमित्ते च सति उपचारः प्रवर्त्तते**"। व्यवहार को उपचार भी कहते हैं। व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। यदि सर्वथा असत्यार्थ

माना जावे तब वेदांतमत के समान संसार स्वप्नवत् मिथ्या हो जावेगा। आत्मा को सांख्य के समान पुष्करपलाशवन्निर्लेप कहना पड़ेगा। परतु आत्मा ऐसा है नहीं।

आत्मा की दो धारा हों, ऐसा भी नहीं है (१) सामान्य धारा, (२) विशेष धारा। विशेषों से सामान्य कोई अलग नहीं है, सामान्य अनुगताकार उन विशेषों में पाया जाता है। निरपेक्ष सामान्य अभावरूप है। **निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।** सामान्यमात्र से कोई काम भी नहीं चलता। जैसे किसी ने कहा कि मनुष्य को लाओ। सुनते ही विचार उत्पन्न होता है कि यह किस मनुष्य का आह्वान है। कोई भी विशेष पुरुष के आजाने से सामान्य मनुष्य का भी आगमन सिद्ध हो जाता है। सामान्य विशेष दोनों का सबन्ध उसी एक पुरुष के आधार से लगा है।

यदि निश्चयनय को सामान्य माना जाय तो व्यवहारनय विशेष ठहरता है। तब व्यवहारनय की अपेक्षा स्वय सिद्ध हो गई। व्यवहारनय मे ही निश्चयनय का विषय सामान्य का अवलोकन करना चाहिये। जैसे नवतत्त्वों में गत होने पर भी जीव अपने एकत्व को नहीं छोड़ता है। जीव एकानेकात्मक स्वय है। इन कथनमात्र दोनों नयों की विवक्षा रूप एकानेकात्मक जीव हो, ऐसी बात नहीं है। अतः अनेकात्मकपना भी स्वभाव है। परन्तु मिश्रण से, अशुद्धता से आये हुए विकारीभावों को जीव कहने रूप प्रयोजन को देखकर उपचार शब्द से कहा जाता है। तथा विकारभाव जीव में कहाँ से आये हैं, इसकी जब खोज करते हैं, तब हमें दृष्टि को निमित्त प्रधान बनाना पडता है। उस निमित्त के होने पर जीवद्रव्य वैसा विकारी होता है। अतः

निमित्ताधीन कथन करने वाला ही व्यवहारनय उपचार है। इस तरह प्रयोजन निमित्त दोनों ही दृष्टि अशुद्ध कथन में काम आती हैं। अशुद्ध कथन जीवद्रव्य में आचार्यों ने बताया ही है। अभी बाँस के दृष्टान्त से स्पष्ट कर ही चुके हैं। इससे वस्तुरूप अशुद्धता है।

इस वस्तुरूप अशुद्धता को कथन करने वाला व्यवहारनय उपचार है। तथा उपचार भी सर्वथा असत्यार्थ हो या अनादि से हमारी प्रतीति में आ रहा हो, ऐसा नहीं है। अनादि से तो हमने समझा ही नहीं। एकान्त अज्ञानी ही रहे। अब वस्तुस्वरूप को पहचाना तब असत्यार्थ वा सत्यार्थ जाना। उसमे सत्यार्थ को उपादेय जाना और असत्यार्थ को हेय जाना। हेय जानने से स्वप्नवत् मिथ्या नहीं है। इसलिये प्रयोजन निमित्त की दृष्टि में उपचार भी सत्यार्थ है। ऐसा कथंचित् निर्णय करना ही सम्यग्ज्ञान है। व्यवहारनय को हेय किस दृष्टि से बताया है, उसका खुलासा समयसार बंधाधिकार में कहा है :—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ॥
णिच्छयणयासिदा पुण मुनिणो पावंति निव्वाणं ॥

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एव चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यैकांतेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वाच्च ॥

भावार्थ :—आत्मा के पर के निमित्त से जो अनेकभाव होते हैं वे सब व्यवहारनय के विषय हैं, इसलिये व्यवहारनय पराश्रित है। और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है, वही निश्चयनय का विषय है। इसलिये निश्चयनय आत्माश्रित है। अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है। इसलिये अध्यवसान का त्याग व्यवहारनय का ही त्याग है। और जो पूर्वोक्त गाथाओं मे अध्यवसान के त्याग का उपदेश है वह व्यवहारनय के ही त्याग का उपदेश है। इस प्रकार "निश्चयनय को प्रधान करके" व्यवहारनय के त्याग का उपदेश किया है। उसका कारण यह है कि जो सापेक्ष निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं और जो "एकान्त से व्यवहारनय के ही आश्रय से प्रवर्तते है।" वे कर्मों से कभी मुक्त नहीं होते।

यहाँ पर पराश्रितपना त्याग का कारण बताया है। एकान्त से जो इस पराश्रित व्यवहार को ही पकड़ते हैं। वे अभव्य हैं। मुमुक्षु नहीं हैं। संसारी है। परन्तु जो मुमुक्षु अनेकांत से व्यवहारनय को जानते हैं, उनके लिये सर्वथा हेय नहीं है। यह तात्पर्य यहाँ निकला। अतः सापेक्ष साधक व्यवहारनय का निषेध नहीं है। वह तो साध्य सिद्ध होने पर स्वय ही छूट जावेगा। ऐसी दृष्टि का सन्मुख रखना चाहिये, नहीं तो परिणति शुद्ध करने का पुरुषार्थ बन ही नहीं सकता। अशुद्ध से ही अशुद्ध को शुद्ध करना है। शुद्ध से शुद्ध क्या होगा। वह तो शुद्ध है ही।

प्रत्येक जीव के पर्याय भोग्य होती है, द्रव्य भोग्य नहीं होता है। तब जहाँ पर्याय में अशुद्धि आई है, उसी को दूर करने का पुरुषार्थ करना कर्त्तव्य है। पर्याय की अशुद्धि को जानना व अपेक्षा से भिन्न करना ही व्यवहार है।

अथवा जिस समय अशुद्धता जिस कारण से हो रही है, उसका कथन भी निश्चय है। यहाँ निश्चय का अर्थ दृढ़ता है। यदि अशुद्धि को अपना दोष न मानें अर्थात् विभाव को हेय न समझें, तब उसे छोड़ें कैसे ?

शुद्धि अशुद्धि

इसलिये अनादि काल से सामान्य वस्तु स्वरूप ही विशेष रूप से अशुद्ध हो रहा है। यह नहीं है कि वस्तु की सामान्य धारा त्रिकाल शुद्ध हो।

द्रव्यशुद्धि का अर्थ दूसरे द्रव्य का तादात्म्य न होना ही है। यदि तादात्म्य हो जावे तो जीव पुद्गल का या अन्य द्रव्यों का भेद ही मिट जावे। दो द्रव्यों के सयाग का तथा परस्पर निमित्तनैमित्तिकपने का कहीं भी आगम ने निषेध नहीं है। यथाः—अणु से अणु मिलकर द्व्यणुक बन जाता है। जीव और कर्मनोकर्म मिलकर असमान जातीय द्रव्य पर्याय बन जाती है। इसका कथन पहले भी लिख चुके हैं। विशेष कथन पचास्तिकाय गाथा ६५-६७ मे देखना चाहिये। प्रवचनसार में गाथा १७५-१८० तक बंध का कथन स्पष्ट है। समयसार, मूलाचार, अष्टपाहुड, भगवतीआराधना, कर्मपाहुड, कषायपाहुड तथा गोम्मटसारादि मे आत्मा की संदेहावस्था तथा अशुद्धता का वर्णन स्पष्ट है।

अकेला निश्चयनय

यदि निश्चयनय पूर्ण शुद्ध ही माना जावे, तो भी श्री अमृतचद्रसूरि ने यही बताया है, कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान को विकल्पों से हटाकर आत्मस्वरूप की अनुभूति में लगावे। ये ही हमारे पास दो साधन हैं, जिनके द्वारा हम वस्तुस्वरूप के निकट पहुंचते हैं (समयसार गाथा १४३-१४५)। केवल-

ज्ञानरूप साधन तो अभी हमारे पास हैं ही नहीं। तथा केवलज्ञान भी तो स्वयं साध्य है। अब आप ही विचारें कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान व्यवहार हैं या निश्चय, तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान का फल स्वानुभूतव्यवहार है या निश्चय। यदि व्यवहार कहते हैं तो साधन व्यवहार सिद्ध हुवा। अभी निश्चय को सिद्ध करना शेष है। यदि निश्चय कहते हो तो फिर इसका फल आगे क्या होगा। यहाँ ज्ञान की विकासावस्था पूर्ण हो जानी चाहिये सो होती नहीं है। वह साध्य अभी बहुत दूर है। अतः अकेला निश्चयनय कार्यकारी नही है। सापेक्ष कथन का करना वा जानना ही वा उन से भी आगे निर्विकल्प बनना ही समयसार बनना है। यही स्वाध्याय का फल है। कहा भी है:—

बुद्धेः फलं स्वात्महितप्रवृत्तिः ॥

निष्फल ज्ञान-कुछ नहीं

आत्मा के ५ विशेषण (अबद्धस्पृष्ट, असयुक्त, अनन्य, अविशेष नियत) कथन मात्र हैं, या स्वयं सिद्ध अनादि व्यक्त हैं, या अभी व्यक्त होना है। यदि कथन मात्र है, तो फिर कौन निष्फल पुरुषार्थ करेगा। **प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोऽपि न प्रवर्त्तते।** प्रयोजन फल कुछ न कुछ अवश्य होना चाहिये। न्याय शास्त्रों में कहा है, ज्ञान इष्ट प्रयोजनवाला होना चाहिये, ज्ञान विना फल के कुछ भी चीज नहीं है। अज्ञाननिवृत्ति तथा (रागादि दोषों का अभाव रूप) उपेक्षा को ज्ञान का फल बताया है। तभी वचन की प्रमाणता होती है। यदि उन में असिद्धादि दोष न हों, तभी वे लोकों के और बुद्धिमानों के आदरणीय (ग्राह्य) होते हैं एवं धारण किये जाते हैं। आज

वचनों के बल से ही श्रीधवलशास्त्रको देखकर कहना पड़ता है कि कोई सर्वज्ञ भी होगा ? जब श्रीवीरसेनाचार्य ने इतने विस्तार से सब विषयों को लिखा है, जिससे उनकी विद्वत्ता तो प्रतीत होती ही है। साथ में सर्वज्ञता पर भी श्रद्धान दृढ़ हो जाता है कि ऐसा गूढकथन करने वाला परम्परया सर्वज्ञ होना ही चाहिये। सर्वज्ञ विना कौन इतना विवेचन कर सकता है। इसलिये शास्त्र भी प्रमाण है। तथा ज्ञान में निमित्त सदैव है, जब उस द्रव्यश्रुत को पढे, तभी अज्ञान निवृत्ति रूप फल विद्यमान है। यदि द्रव्यश्रुत का निमित्तपना भी मिटजाय तो उस का आदर कौन करे। **तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् प्रमाणं** कहा है। प० आशाधर जी कहते हैं:—

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनं ॥
न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः । सागार धर्मामृत।

यद्यपि शास्त्र ज्ञान नहीं है, बिलकुल भिन्न है तथापि श्रुत के पठन का फल हेयोपादेयतत्त्व की व्यवस्था बताई है। और ज्ञान का फल बता ही चुके हैं। फलविप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुये परीक्षामुख मे कहा है कि **अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादनोपेक्षाश्च फलम्** । इसका अर्थ स्पष्ट ही है। ज्ञान (प्रमाण) की ज्ञप्ति तथा प्रमाणता के विषयमे ऐसा कहा है:-**तत्प्रामाण्यं स्वतःपरतश्च** । ज्ञान में प्रमेय का ज्ञान अभ्यास दशामें स्वतः होता है। अनभ्यास दशा में परतः होता है। तथा ज्ञान की प्रमाणता (सच्चाई) पर से ही होती है।

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थेसति नासति।
सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥८७॥

ऐसा आप्तमीमांसा में कहा है। श्री विद्यानदस्वामी ने अष्ट-सहस्री में पर का अर्थ सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वेन किया है। अविसंवादित्वेन, प्रवृत्त्या सामर्थ्येन तथा निर्दोषत्वेन का खण्डन किया है। ऐसा जो सांख्य, मीमांसक, बौद्ध आदि मानते हैं, सो पर का अर्थ ठीक नहीं है। इस प्रकार ज्ञापक तत्त्व भी पर की अपेक्षा रखता है। पर की अपेक्षा का अर्थ परतन्त्रता करना या स्वतन्त्र शक्ति का विनाश करना ठीक नहीं है। शक्तियाँ अपनी सत्ता में पर की अपेक्षा नही करतीं परन्तु विकास में— व्यक्त होने में अवश्य पर की अपेक्षा रखती हैं। नही तो श्रीअकलङ्कदेव तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे सब जगह उभय-निमित्तवशात् क्यों लिखते। उत्पत्ति तो पर्याय की होती है—द्रव्य की होनी नहीं है। पर्याय है सो कार्य है। कार्य की उत्पत्ति अनेक उपकरणों से होती है, सो ही अकलङ्कदेव पचमाध्याय सूत्र १७ की वार्तिक ३१ में धर्म अधर्म द्रव्यों की सिद्धि करते हुए कहते हैं।

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः। इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टं यथा मृत्पिण्डो घट-कार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यंतरसामर्थ्यः बाह्यकुला-लदंडचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्याये-णाविर्भवति। नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधन-सन्निधानेन विना घटात्मनाऽविर्भवितु समर्थः। तथा पतत्रिप्रभृतिद्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं नांतरेण बाह्यानेककारणसन्निधिं गतिं स्थितिं वा प्राप्नु-मलमिति तदुपग्रहकारणधर्माधर्मास्तिकायसिद्धिः।

भावार्थः— इस लोक में कार्य अनेक उपकरणों से

(कारणों से) साध्य देखा जाता है। जैसे मिट्टी का पिण्ड घटकार्य रूप परिणमन प्राप्ति के प्रति अभ्यतर सामर्थ्य को ग्रहण किये हुवे भी बहिरङ्ग कुंभकार दड चक्र सूत्र जल काल आकाश आदि अनेक उपकरणों की अपेक्षा वाला घटपर्याय से प्रगट होता है। अकेला ही मृत्पिण्ड कुम्हार आदि बाह्य-साधनों की निकटता विना घटरूप से उत्पन्न होने को समर्थ नहीं हैं। उसी तरह पक्षी आदि द्रव्य गति स्थिति परिणाम प्राप्ति के सन्मुख बाह्य अनेक कारणों की निकटता के विना गति स्थिति प्राप्त करने को समर्थ नहीं है। यह आगमोक्त कथन है। यह कथन सफल होना ही चाहिये। अतः ५ विशेषणो का कथन कथनमात्र ही नहीं है, सार्थक है। यदि कहो कि ये स्वय सिद्ध अनादि से व्यक्त हैं तो यह भी कथन ठीक नहीं है। वे वर्तमान पर्याय मे उपलब्ध होना चाहिये। उपलब्ध होते नही हैं। वर्तमान मे बद्धस्पृष्ट, सयुक्त, अन्य, विशेष अनियत परिणमन देखे जाते हैं। उन उपर कहे हुए अबद्धस्पृष्ट आदि का प्राप्त करना पुरुषार्थ है। अतः ऐसा भी (व्यवहार-निश्चय) नय क्या काम का जिसका कुछ भी विशेष फल न हो। शक्ति रूप से केवल ज्ञान सदा ही है परन्तु सुमतिज्ञान सुश्रुतज्ञान के द्वारा अनुभूति करके ही निर्विकल्प बनकर केवलज्ञान की प्रकटता कर सकते है, पहले नहीं। जैसे धान है उसका छिलका दूर न होने पर वह उपभोग्य नहीं है। उसको भोग्य बनाने के पहले भी चावल विद्यमान है। ऐसी श्रद्धा से भी तो काम नहीं चलता। अतः हमें व्यवहार की परम आवश्यकता है। अतः यह कहना भी ठीक नहीं है कि अनादि से स्वय सिद्ध व्यक्त हैं। यदि कहो कि अभी व्यक्त होना है, तो ऐसा निश्चय साध्य

ही बना। साधन हैं सो ही व्यवहार हैं। अभी विशेषणों का पर्याय से अव्यक्तपना है और द्रव्य से भूतार्थपन्न है। इन ही सब का विशेष कथन इसी गाथा की टीका में देखें उससे सब विषय स्पष्ट हो जावेगा। देखो समयसार की गाथा १४।

षट् कारकों का वर्णन

षट् कारकों का वर्णन भी दो तरह से है। भेदरूप और अभेदरूप। भेदरूप (व्यवहार) कारण (कारक) कर्मनोकर्म की अपेक्षा से बनते हैं। अभेदरूप केवल आत्मा मे ही लगाते हैं। फिर वे भी लुप्त हो जाते हैं। पचास्तिकाय गाथा ४६ की टीका मे तथा ६० की टीका मे लिखा है:—

यथा देवदत्तस्य गौरित्यन्यत्वे षष्ठीव्यपदेशः तथा वृक्षस्य शाखा द्रव्यस्य गुणा इत्यनन्यत्वेऽपि। यथा देवदत्तः फलमङ्कुशेन धनदत्ताय वृक्षाद्वाटिकायामवचिनोतीत्यन्यत्वे कारकव्यपदेशः तथा मृत्तिका घटभावं स्वयं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्मिन् करोतीत्याऽत्माऽत्मानमात्मनाऽऽत्मने आत्मन आत्मनि जानातीत्यनन्यत्वेऽपि इत्यादि ॥४६॥

जैसे देवदत्त फल को अकुश के (बाण के) द्वारा धनदत्त के लिये वृक्ष से बगीचे में तोड़ता है ऐसे भिन्नपने में कारकों का कथन है। तथा मिट्टी घटभाव को स्वयं अपने द्वारा अपने लिये अपने से अपने मे करती है। इसी प्रकार आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा के लिये आत्मा से आत्मा मे

जानता है ऐसा अभेदपने में कारक व्यपदेश है। अब भिन्न वा अभिन्न कर्त्तापने को दिखाते हैं:—

व्यवहारेण निमित्तमात्रत्वाज्जीवभावस्य कर्म कर्तृ, कर्मणोऽपि जीवभावः कर्ता। निश्चयेन तु न जीवभावानां कर्म कर्तृ, न कर्मणो जीवभावः। न च ते कर्तारमंतरेण संभूयन्ते। यतो निश्चयेन जीवपरिणामानां जीवः कर्ता। कर्मपरिणामानां कर्म कर्तृ इति ॥६०॥

इसी तरह गाथा ६८ पंचास्तिकाय की टीका में कर्तृत्व गुण का उपसहार करते हुए उभयनयों के कथन को ही यथार्थ सिद्ध किया है। भोक्ता तो जीव ही है, पुद्गल नहीं है, चैतन्यपूर्वक अनुभूति न होने से। गाथा ८ की टीका में कहा है:—

इति सर्वमनवद्यम्। सामान्यविशेषप्ररूपणप्रवणनयद्वयायत्तत्वात् तद्देशनायाः ॥८॥

भगवान की देशना दोनों नयों के कथन के आधीन कही है। केवल एक ही नय का प्रयोग ठीक नहीं है। अन्त में स्वानुभूतिपूर्ण निर्विकल्प होने पर स्वयमेव षट्कारकों का भेद, अभेद व्यपदेश ही मिट जाता है। समयसार गाथा २९७-२९८-२९९ की टीका मे स्वष्ट विवेचन है। इसलिये हमे पहले व्यवहार सापेक्ष निश्चयनय का ही ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् जानना चाहिये। न कि पक्ष की ही हठ बना लेना चाहिये। ज्ञानी जीवों के तो एक ज्ञान की पक्ष होती है।

शंका—गाथा २७२ से २७६ तक समयसार में व्यवहारनय को प्रतिषेध्य बताया है तथा निश्चयनय को प्रतिषेधक बताया

है। कलश १७३ में कहा है कि:— "**तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः**" यह पराश्रित व्यवहार ही पूर्ण छुड़ाया है तथा एक निश्चल निश्चय पर आरूढ़ होने की प्रेरणा की है। यहाँ पर आप दोनों नयों को आवश्यक बताते हैं। सो किस तरह? समाधान.—पहले भी अच्छी तरह से उत्तर आ ही गया है। यदि आप खरतर दृष्टि से या तत्त्व दृष्टि से विचारेंगे तो आपको स्वयं २७६ गाथा के अर्थ से बोध हो जायगा कि व्यवहाराभास को छुड़ाया है या व्यवहार को ही छुडाया है। अभव्य की अपेक्षा यह व्यवहार प्रतिषेध्य है। अनैकांतिक का अर्थ करते हुए खुलाशा किया है।

तथा हिः—नाचारादि शब्दश्रुतं एकांतेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्। न च जीवादयः पदार्थाः दर्शनस्याश्रयाः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्। न च षट्जीवनिकायाश्चारित्रस्याश्रयाः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्। शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्। इत्यादि।

शुद्ध आत्मा ही ज्ञान दर्शन चारित्र का आश्रय है, व्यवहार से आचारादि शब्दश्रुत का सद्भाव हो या न हो। जीवादि-पदार्थ हो या न हो, षट् जीवनिकाय हो या न हो, एक शुद्धात्मा के सद्भाव में तीनों होते हैं। परन्तु व्यवहार में यह बात नहीं है कि ज्ञान दर्शन चारित्र हो ही जाय। अतः अनैकांतिक है।

अनैकांतिक का अर्थ है कि कोई जीव के आचारादि शब्द श्रुतज्ञान के होने से जीवादि पदार्थों के श्रद्धान से तथा षट् जीवनिकाय की रक्षा से ज्ञान दर्शन चारित्र हो जाते हैं। यह भव्य जीव की अपेक्षा होने का कथन है। अभव्य के नहीं होते हैं। अतः अभव्य की अपेक्षा निषेध का कथन है। सो व्यवहार का निषेध्यपना न होने की अपेक्षा जानना (होने की अपेक्षा न जानना)। श्री वीरसेन स्वामी ने वेदना खड के कृतिअनुयोगद्वार मे (पुस्तक ९ धवला टीका पृष्ठ ५) मगलाचरण का अनैकांतिकपना परिहार करते हुए कहा है कि शंका:—मगल करके प्रारम्भ किये गये कार्यों के कहीं पर विघ्न पाये जाने से और उसे न करके भी आरम्भ किये गये कार्यों के कहीं पर विघ्नों का अभाव देखे जाने से जिनेन्द्र नमस्कार विघ्नविनाशक नहीं है। समाधानः—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि जिन व्याधियों की औषध की गई है उनका अविनाश, और जिनकी औषध नहीं की गई है उनका विनाश देखे जाने से व्यविचार (अनैकांतिक) ज्ञात होने पर भी मारिच (कालीमिरच) आदि औषधि द्रव्यों मे औषधित्व गुण पाया जाता है। यदि कहा जावे कि औषधियों का औषधित्व '(उनके सर्वत्र अचूक न होने पर भी) इस कारण नष्ट नहीं होता कि असाध्य व्याधियों को छोड़कर के केवल साध्य व्याधियों के विषय मे ही उनका व्यापार माना गया है। उसी तरह जिनेन्द्र नमस्कार भी विघ्न विनाशक है। उसका भी व्यापार असाध्य विघ्नों के कारण भूत कर्मों को छोड़कर साध्य विघ्नों के कारण भूत कर्मों के विनाश में देखा जाता है। यहाँ साध्य असाध्य व्याधि की तरह भव्य अभव्य जानना चाहिये। इस तरह दोनों ही नय आवश्यक हैं।

ससार (आस्रवबंध) का भी स्वरूप यथार्थ जानना जरूरी है। केवल हेय कह देने से. या होगा कैसे, भी मात्र कह देने से ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि हमें अब तो सम्यक् पुरुषार्थ करके आस्रवबध को मिटाना है। आस्रवबध का स्वरूप भूतार्थनय से जानने का नाम सम्यकत्व कहा है। (समयसार गाथा १३) इसलिये सापेक्ष व्यवहारनय का प्रतिपादन भी पूर्ण है। पंचास्तिकाय गाथा १५९ की टीका मे कहा है:—

यत्तु पूर्वमुद्दिष्टं तत्स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रित भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम्। न चैतद् विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्। अत एवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्त्तनेति ॥

सो ही आगे १६० गाथा में कहा है। यही समर्थन, समयसार गाथा ५६ से ६० तक की टीका मे किया गया है। सो भी अवश्य समझने का विषय है। सो वही ग्रथ से स्वाध्याय कर निर्णय कर लेना। जो ऐसा निर्णय नहीं करते हैं, केवल द्रव्य की स्वतत्रता को ही निश्चय का कथन मानते है। वे भी स्वतत्रता का अर्थ नहीं समझे है। स्वतत्रता का अर्थ है अपना परिणमन करना, किसी अन्य गुण से या अन्य द्रव्य से मिल नहीं जाना चाहे वह परिगमन निमित्त से विभाव रूप या स्वभाव रूप हो दोनों ही अवस्था में स्वतत्रता है।

ऐसी स्वतत्रता आत्मा की सदैव है। इस में कोई नय का कथन बाधक नहीं है। अतः हमें कथन मात्र पर प्रसन्न न हो जाना चाहिये। अपनी परिणति को अविराम गति से विशेष शुद्ध बनाने की सदैव चेष्टा करनी चाहिये। यही दोनों नयों के ज्ञान का

फल है। जिसने मात्र चर्चा में ही समय बिताया, उसने अपने समय को सफल नहीं किया। इन नयों का विषय अपनी आत्म-परिणति को बनाना चाहिये, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। कहा भी है:—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ॥
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति ॥

इस प्रकार के प्रत्यवेक्षण से ही आत्मा की शुद्धि होगी।

॥ शुद्धचिद्रूपाय नमः ॥

पंचम प्रश्नः—सर्वज्ञकथित तत्त्वों से युक्त शुभोपयोग श्रावक के लिये मोक्ष का कारण है या मात्रबंध का ही कारण है? व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का साधन है या नहीं? व्यवहाररत्नत्रय पहले होता है कि निश्चयरत्नत्रय? आत्म-धर्म नं० १३४ पत्र नं० ३९ पर लिखा है कि "निश्चयरत्नत्रय वह मोक्षमार्ग है। और व्यवहाररत्नत्रय उससे विपरीत अर्थात् बंधमार्ग है। व्यवहार से निश्चयरत्नत्रय हो जायेगा, ऐसा जो मानता है, उसने विपरीत का परिहार नहीं किया। इस विषय में आपकी मान्यता क्या है?

समाधानः—आप श्रावक के विषय में पूछते हो या साधु के? दिगम्बर जैनागम में कथन दो प्रकार से है, १ करणानुयोग की दृष्टि से २ चरणानुयोग की दृष्टि से। जब हम करणानुयोग की दृष्टि से विचार करते है तो हमे भावों का पता तो है नहीं। परन्तु जैसा कि आगम मे कथन है, तद्रूप ही वर्तमान में दर्शनमोहनीय का उपशम या क्षयोपशम तथा अनंतानुबंधी आदि का क्षयोपशम होता है।

सभी साकार अनाकार संज्ञा आगम में कही है। उसकी परीक्षा स्वानुभव तथा आगम में बताये हुये अनुमानों से प्रशम संवेगादि भावों से होती है। ऐसे श्रावक की या साधु की जितनी भी क्रियाएं हैं, चाहें वे शुभ हों या अशुभ, सभी सम्यग्दर्शन के सद्भाव से निर्जरा की निमित्त होती हैं। समयसार निर्जराधिकार गाथा १९३-१९४ में ऐसा ही कहा है—

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ॥
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३॥
दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा ॥
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१९४॥

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है और ज्ञानी के रागद्वेष मोह का अभाव कहा है। इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागी है। यद्यपि उसको इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखाई देता हो, तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति राग नहीं है। वह जानता है कि "यह भोग की सामग्री पर द्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्मोदय के निमित्त से इसका और मेरा संयोग वियोग है। उसी प्रकार जब तक इसे चारित्रमोह का उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होने से पीड़ा को सहन नहीं कर सकता है तब तक जैसे रोगी रोग की पीडा को सहन नहीं कर सकता, तब उसका औषधि इत्यादि के द्वारा उपचार करता है। इसी प्रकार भोगो-पभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता हुवा दिखाई देता है, किन्तु जैसे रोगी रोग को या औषधि को अच्छा नहीं मानता। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्र मोह

के उदय को या भोगोपभोग सामग्री को अच्छा नहीं मानता है। और निश्चय से तो ज्ञातृत्व के कारण ही विरागी सम्यग्दृष्टि उदयागत कर्मों को मात्रजान ही लेता है। उन के प्रति उसे रागद्वेष मोह नहीं है। इस प्रकार रागद्वेष मोह के विना ही उनके फल को भोगता हुवा दिखाई देता है। तौभी उसके कर्म का आस्रव नही होता। कर्मास्रव के विना आगामी बंध नहीं होता। और उदयागत कर्म तो अपना रस देकर खिरही जाते हैं। क्योंकि उदय में आने के बाद कर्म की सत्ता रह ही नही सकती। इस प्रकार उसके नवीन बंध नहीं होता और उदयागत कर्म की निर्जरा हो जाने से उसके केवल निर्जरा ही हुई। इसलिये विरागी सम्यग्दृष्टि के भोगोपभोग को निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है। पूर्व कर्म उदय में आकर उसका द्रव्य खिर गया सो वह द्रव्य निर्जरा है ॥१९३॥

परद्रव्य भोग में आने पर कर्मोदय के निमित्त से जीव के सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से उत्पन्न होते हैं। इसलिये उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता। अतः मिथ्यादृष्टि को परद्रव्य के भोगते हुये बंध ही होता है। सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबंधी कषाय संबंधी रागादिक न होने से आगामी अनंत संसार का बंध किये विना ही वह भाव निर्जरित हो जाता है। इसलिये उसे निर्जरित कहा जाता है। अतः सम्यग्दृष्टि के परद्रव्य भोगने में आने पर भी निर्जरा ही होती है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के भाव निर्जरा होती है।

सम्यग्दृष्टि के विषयभोग निर्जरा के हेतु हैं। तब क्या ये विषयभोग शुभ परिणाम हैं। क्या ये अबुद्धि

पूर्वक (स्वामित्व) नहीं हैं। हैं, तो ये शुभ ही क्रियाएँ, तथापि श्रद्धा की अपेक्षा विषयों में राग नहीं है। अतः द्रव्यानुयोग से निर्बन्ध है परन्तु करणानुयोग से सबन्ध है। तथापि निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक अधिक है। स्वामित्व मिट जाने से सभी क्रियाएँ सम्यग्दर्शन के सन्निधान में संवर निर्जरा की कारण हैं, यह कहना युक्ति युक्त है।

श्रद्धा यथार्थ हो जाने से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। सम्यक्चारित्र की परिणति कषाय के सद्भाव से जघन्य रूप रहती है। अतः बंध का कारण होते हुये भी वह संवर निर्जरा का प्रधान हेतु है। हम जब सम्यक्चारित्र का लक्षण विचारते हैं, तब करणानुयोग के अनुसार यही सिद्ध होता है कि जितने अंशों में रागादि नहीं है उतना ही सम्यक्चारित्र है। ज्ञानगुण का परिणाम बंध का कारण कैसे है? इस प्रश्न का उत्तर समयसार गाथा १७१-१७२ की टीका मे दिया है:—यो हि ज्ञानी स बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किन्तु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तःसन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्याचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वककर्मकलङ्कविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात्।

इससे ऐसा अनुमान बनता है कि ज्ञानिनः अबुद्धिपूर्वककर्मकलङ्कविपाक सद्भावः (रागादयः) संति जघन्यभावान्यथानुपपत्तेः। ज्ञानी सबंधः अबुद्धिपूर्वककर्मकलङ्कविपाकसद्भावात्। ज्ञानिनः बुद्धिपूर्वकरागादयो न संति

सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः । ज्ञानी निरास्रवः बुद्धिपूर्वक-रागद्वेषमोहास्रवभावाभावात् ॥ इस तरह ज्ञानी के एक ही परिणाम से आस्रव बंध संवर निर्जरा चारों ही तत्त्व होते हैं। सारांश यह है कि ज्ञानी को मोक्षमार्ग में सदा सावधान जागृत रहना चाहिये। जो ऐसा उपदेश (उपभोग से ज्ञानी को बंध नहीं होता है। गाथा २२१ समयसार) सुनकर उपभोग की इच्छा करने लगता है तब अज्ञानी हो जाता है। उपभोग बिना इच्छा के होना और उपभोग की इच्छा करना यही ज्ञानी अज्ञानीपने का महान् अंतर है। इच्छा रहित उपभोग होना परापराध है। तथा उपभोग की इच्छा करना स्वापराध है। ऐसा ही कलश १५१ में कहा है:—

बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते।
ज्ञानं सन्वस बंधयेष्यस्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवं ॥

इसलिये ज्ञानी को आचार्य ने और भी सावधान किया है कि तुम स्वच्छंद मत बनना। स्वच्छंदता ही बंध का कारण है। सो ही कलश १६६ में कहा है:—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

अर्थ—तथापि अर्थात् लोक आदि कारणों से बंध नहीं कहा और रागादिक से ही बंध कहा है तौभी ज्ञानियों को मर्यादा रहित स्वच्छंद प्रवर्तना योग्य नहीं कहा, क्योंकि निरर्गल (स्वच्छंद)

प्रवर्तना बंध का ठिकाना है। ज्ञानियों के विना वाञ्छा कार्य होता है। वह बंध का कारण नहीं कहा क्योंकि जानता भी है और करता भी है ये दोनों क्रियाएँ क्या विरोधरूप नहीं हैं? करना और जानना तो विरोध रूप ही हैं।

ऐसे एक भाव से चारों तत्त्व जान कर स्वच्छन्द मत बनना। जघन्य (कषायों के सद्भाव) भावों से उत्कृष्ट भाव बनाने की सदा ही चेष्टा करना।

शुभ शब्द का प्रयोग

सम्यक् शब्द का प्रयोग तो श्रद्धा की यथार्थता से है। तथा चारित्र का प्रयोग कषाय के अभाव से होता है। तब बीच में शुभोपयोग किसके आश्रित रहा। सर्वज्ञ कथित तत्त्वों में ही श्रद्धा ज्ञान तथा परिणति ज्ञानी का शुभोपयोग है। अतः जैसे कि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से असंयम संयम हो गया। उसी प्रकार क्या अनतानुबधी आदि कषाय के क्षयोपशम के प्रभाव से शुभोपयोग का कार्य संसारवृद्धि होगा? तथा शुभोपयोग का अश क्या अशुभ कषायनिवृत्ति से भिन्न है? एक साथ दोनों प्रवृत्ति निवृत्ति अंश रूप में हैं। तब एक अंश बध का कारण हो और एक अश मोक्ष का कारण हो यह कथन शोभा नहीं देता। करणानुपयोग में यद्यपि शुभभाव बध का कारण कहा है, तथापि विशुद्धि से अल्पस्थिति ही तो बधी, तथा उसी अल्पस्थिति में विशेष अनुभाग क्या अनत ससार का कारण होगा? गो. कर्मकाण्ड में स्थितिबंध और अनुभागबध की गाथा ऐसी कही है:—

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण ॥
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु ॥१३४॥

अर्थ—तीन आयुबिना ११७ प्रकृतियों का उत्कृष्टस्थितिबंध यथासंभव उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से होता है और जघन्य-स्थितिबंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों से होता है।

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण ॥
विवरीदेण जहण्णो अनुभागो सव्वपयडीणं ॥१६३॥

अर्थ—सातावेदनीयादिक शुभ प्रकृतियों का अनुभागबंध विशुद्ध परिणामों से उत्कृष्ट होता है। असातावेदनीयादिक अशुभ प्रकृतियों का अनुभागबंध संक्लेशरूप परिणामों से उत्कृष्ट होता है। और शुभ प्रकृतियों का संक्लेश परिणामों से तथा अशुभ प्रकृतियों का विशुद्ध परिणामों से जघन्य अनुभागबंध होता है।

स्थितिबंध ही सब से अधिक संसार का कारण है। सो ही कहा है:—(गो कर्मकाण्ड)

सव्वाओ दु ठिदीओ सुहासुहाणं पि होंति असुहाओ ॥
माणुसतिरिक्खदेवाउगं च मोत्तूण सेसाणं ॥१५४॥

अर्थ—मनुष्य तिर्यंच देवायु के सिवाय बाकी सब शुभ तथा अशुभ प्रकृतियों की स्थितियाँ अशुभरूप ही हैं, क्योंकि संसार का कारण हैं।

विशुद्धि की वृद्धि होते-होते स्थिति अधिक-अधिक अल्प अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त मे होती जाती है। तथा उसी शुभोप-योग की विशेषता से असख्यातगुणी २ निर्जरा भी प्रति समय होती ही रहती है। समयसार की गाथा १९३ "तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं" क्या मोक्ष मार्ग को सूचित नहीं करती है ?

शंका—चारित्र गुण की एक समय में एक ही पर्याय तो होगी,

तब क्या वह एक ही पर्याय संसार का भी कारण है, और मोक्ष का भी कारण है।

यहाँ अनेकांत दृष्टि से विचारिये, तभी आप इसका निर्णय कर सकते हैं। एक साथ दोनों ही अस्ति नास्ति रूप उत्तर हैं। वह अल्पस्थितिरूप बंध साक्षात् संसार होते हुए भी परंपरा मोक्ष का अर्थात् स्थितिच्छेद का कारण होता है। ज्ञानी की दृष्टि में वही अबंध भी है। ऐसे शुभोपयोग को मात्रबंध का ही कारण कहना, या अधर्म शब्द से कहना यह करणानुयोगादि के ज्ञान न होने को सूचित करता है। जैसे केवली भगवान् को आयुकर्म के सद्भाव होने पर भी नोसंसारी या जीवन्मुक्त कहते हैं। संसारी शब्द का अर्थ उनमें घटित नहीं होता। ऐसा **संसारिणो मुक्ताश्च** सूत्र मे पड़ा हुआ **च** शब्द सूचित करता है। शंका—यदि आप कहें कि 'च' शब्द तो समुच्चयार्थक है, यहाँ कैसे सूत्र से यह अर्थ निकला? समाधान—तो इसका निर्णय यही है कि यहाँ सूत्र मे पड़े हुए च शब्द का अन्वाचय अर्थ निकालना चाहिये। **सहजयोग्यता-सङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः** इस (परीक्षामुख) न्यायसूत्र के अनुसार नोसंसारी अर्थ आचार्यों ने किया है। पाठकगण के सामने सदैव कानून की दृष्टि ही न रहनी चाहिये। कहीं कानून तो कहीं कानून की राय। कानून तो कहता है कि कषाय बंध का कारण है। **रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।** आदि॥

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि कम्मेहि रागरहिदप्पा॥
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो॥

[१७९ प्रवचनसार]

परन्तु कानून की राय मे वह कषाय शुभोपयोग निवृत्ति अंश के संपर्क से निर्जरा का कारण और अल्पबंध का कारण है सो ही प्रवचनसार गाथा २५४ में कहा है:—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ॥
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ॥२५४॥

टीका:—एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः। तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्त्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसंगतत्वाद्गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात् कषायसद्भावात्प्रवर्त्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ॥२५४॥

भावार्थ—दर्शनापेक्षा से तो श्रमण को तथा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को शुद्धात्मा का ही आश्रय है। परन्तु चारित्रापेक्षा से श्रमण के मुनियोग्य शुद्धात्म परिणति मुख्य होने से शुभोपयोग गौण है, और सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के मुनियोग्य शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त न हो सकने से अशुभवचनार्थ शुभोपयोग मुख्य है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के अशुभ से (विशेष अशुद्ध परिणति से) छूटने के लिये प्रवर्तमाम जो यह शुभोपयोग का पुरुषार्थ है, वह भी शुद्धि का ही मन्द पुरुषार्थ है। क्योंकि शुद्धात्म द्रव्य के मन्द आलबन से अशुभपरिणति बदल कर शुभपरिणति होती है। और शुद्धात्मद्रव्य के उग्र आलबन से शुभपरिणति भी बदल कर शुद्धपरिणति हो जाती है ॥ २५४ ॥ ऐसा ही

गाथा २५६ तथा २६० में तथा पंचास्तिकाय की गाथा १७१ १७२ आदि में निरूपण किया है। श्रीजयधवला प्रथम पुस्तक में पृष्ठ ६ में भी शुभोपयोग को निर्जरा का भी कारण माना है।

अब इस विषय में श्री अमृतचन्द्र स्वामी पुरुषार्थ सिध्युं-पाय में भी यही कहते हैं:—

असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

अपूर्ण रत्नत्रय को धारण करते हुए जो कर्मबंध होता है, वह अवश्य विपक्ष (शुभोपयोग) कृत है, मोक्ष का उपाय है, बन्धन का उपाय नहीं है ॥२११॥ अपूर्ण रत्नत्रय का खुलासा राग के अंश सद्भाव और असद्भाव से आदि श्लोक २१२ से २२२ तक किया है। २२२वें श्लोक में निश्चय व्यवहार मोक्ष-मार्ग आत्मा को परमपद को पहुँचाता है। **मुख्योपचाररूपः प्रापयति पर पद पुरुष** ऐसा कहा है। अब हमको अपनी दृष्टि-ज्ञान की श्रद्धा की महिमा पर लगानी चाहिये जिससे शुभोपयोग धर्म कहलावे, न कि पहले शुभोपयोग को ही मुख्यदृष्टि से देखें, पीछे शुद्धोपयोग को। जिससे कि शुभोपयोग अधर्म ही हो। पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दृष्टिकोण को समझेंगे तो हमारी शुभ या शुद्ध परिणति से ही हमारा कल्याण होगा।

बंध का अर्थ

जो बध का अर्थ कर्म का संबन्ध कर्म में तथा आत्मा में क्षणिक विकारी भाव होने का निरूपण करते हैं। उनके मत में विकारी भाव तो क्षण भर में होकर नष्ट हो गया, और कर्म से कर्म बध कर भी आत्मा से जब कोई प्रकार का संयोग

नहीं हुआ, तब आप ही बताइये कि आत्मा के बंध तत्त्व का व्याख्यान भूतार्थनय से क्या हुवा ?

कोई भी आगे को संस्कार नहीं चला, तब यह पूर्वकृतकर्म-विपाक है यह कथन मिथ्या हो जावेगा। जैसा कि समयसार कलश १४६ में कहा है:—

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाद् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ॥
तद्भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥

भावार्थः—पूर्व बाँधे हुए कर्मों का जब उदय आये, तब उपभोग सामग्री प्राप्त होवे। उसको अज्ञानमय रागभाव कर भोगे, तब तो वह परिग्रहभाव को (बंध को) प्राप्त होवे। परंतु ज्ञानी के अज्ञानमय रागभाव नहीं है। उदय आया है, उसे भोगता है। यह जानता है कि पूर्व में बाँधा था, वही उदय आ गया। सो पीछे का छूटा, आगामी की बांछा नहीं करता है। इस तरह ज्ञानी के उन कर्मोदय रूप उपभोगों से रागरूप इच्छा नहीं है। तब वे उसके परिग्रह भी नहीं हैं। इसीका खुलासा आगे की २१५ गाथा मे किया है।

पर्याय क्षण भर से अधिक रह नहीं सकती है। सो ही गो० जीवकाण्ड में कहा है:—

पज्जायावट्ठाणं पुण खणमेत्त होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥

अतः जो सज्जन राग को क्षणिक मानते हैं, या संसार को क्षणिक बताते हैं, उनके यहाँ पुण्य पाप की व्यवस्था तथा उक्त ज्ञानी के उपभोग की व्यवस्था नहीं बन सकती। फिर तो चार्वाक जैसा सिद्धान्त हो गया, अथवा बौद्ध मत का प्रसङ्ग आ जावेगा।

आत्मा चाहे शुभोपयोग करे या अशुभोपयोग, कोई प्रकार बंधता ही नहीं है। ऐसी क्षणिक संसार की मान्यता का खंडन श्री अमृतचन्द्रसूरि स्वयं कलश में कर गये हैं। हमें अधिक चिन्ता करने से क्या लाभ होगा सो ही समयसार गाथा ३४८ की टीका में कहा है:—

क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टंकोत्कीर्णस्यैवांतः प्रतिभासमानत्वात् ।

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यांधकैः ।
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ॥
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितै-
रात्माव्युज्झित एव हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०८॥
कर्त्तुर्वेदयितुश्चयुक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा ।
कर्त्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम् ॥
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचिच् ।
चिच्चिंतामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः ।२०९।

अर्थ—आत्मा को समस्तपने से शुद्ध इच्छुक जो बौद्धमती, उन्होंने उस आत्मा में काल की उपाधि के बल से अधिक अशुद्धता मानकर अतिव्याप्ति पाकर तथा शुद्ध ऋजुसूत्रनय के प्रेरे हुए चैतन्य को क्षणिक कल्प कर अन्धों ने आत्मा को छोड़ दिया। क्योंकि आत्मा तो द्रव्य पर्याय स्वरूप था, वह सर्वथा क्षणिक पर्याय स्वरूप मान छोड़ दिया, उनको आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई। यहाँ हार का दृष्टान्त है—जैसे मोतियों की हार नामा वस्तु है, उसमें सूत्र में जो मोती पिरोये

हुवे हैं वे भिन्न-भिन्न दिखते हैं। जो हार नामा वस्तु को सूत्र सहित मोती पिराये हुवे नहीं देखते हैं, सूत्र रहित मोतियों को ही जुदे-जुदे ग्रहण करते हैं, उनको हार को प्राप्ति नहीं होती। उसी तरह जो आत्मा के एक नित्य चैतन्य भाव को नहीं ग्रहण करते तथा समय-समय वर्तना परिणाम रूप उपयोग की प्रवृत्ति को देख उसको सदा नित्य मान काल का उपाधि से अशुद्धपना मान ऐसा जानते हैं कि नित्य माना जाय तो काल की उपाधि लगने से आत्मा के अशुद्धपना आता है, तब अतिव्याप्ति दूषण लगता है। इस दोष के भय से ऋजुसूत्रनय का विषय जो शुद्ध वर्तमान समय मात्र क्षणिक-पना मान आत्मा को छोड़ दिया। कर्त्ता मे और भोक्ता में युक्ति के वश से भेद हो अथवा अभेद हो, अथवा कर्त्ता भोक्ता दोनों ही न हों, वस्तु का ही चितवन करो क्योंकि चतुर पुरुषों कर सूत्र में पोई हुई मणियों की माला जैसे भेदी नहीं जाती, तैसे आत्मा मे पोई हुई चैतन्य रूप चितामणि की माला भी कभी किसी कर भेदी नहीं जा सकती। ऐसी यह आत्मारूपी माला समस्तपने से एक हमारे प्रकाश रूप प्रगट हो ॥२०८-२०९॥

इस तरह बध के क्षणिक होने पर भी न तो आत्मा ही क्षणिक है, और न आत्मा का बद्धपना ही क्षणिक है। बध उदय सत्व का वर्णन ग्रथों में स्वाध्याय कर समझाने की बहुत आवश्यकता है।

जब बध की ही व्यवस्था नहीं बनी, तब मोक्ष की भी व्यवस्था क्या बनेगी। फिर शुद्धोपयोग की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। अथवा मोक्षपर्याय भी क्षणिक रहेगी। सादि अनन्त नहीं कह सकते।

इस तरह ससार पद्धति का और मोक्ष पद्धति का वर्णन आगम मे मिलता है। वह कथन खंडित हो जाने से द्रव्यानुयोग करणानुयोग का ही लोप हो जावेगा। संसार पद्धति और मोक्ष पद्धति का वर्णन प्रवचनसार में इस प्रकार है:—

यो हि नामैव कर्तारं करण कर्म कर्मफलं चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्य परिणमति, स एव विश्रान्तपरद्रव्यसपर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्याय च शुद्धमात्मानमुपलभते न पुनरन्यः। तथा हि।

यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्तिर्जपापुष्पसनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमास, संसारी तदापि न नाम मम कोऽप्यासीत्, तदाऽप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्ताऽसम्, अहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणमासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यं विपर्ययस्तलक्षण दुःखाख्यं कर्मफलमासम्, इदानीं पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसन्निधिध्वंस - विस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिध्वसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति। इदानीमप्यहमेक एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन

स्वतन्त्रःकर्त्ताऽस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मास्मि। अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि। एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते। परमाणुरिव भावितैकत्वश्च परेण नो सपृच्यते। ततः परद्रव्यासपृक्तत्वात् सुविशुद्धो भवति। कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते। ततः पर्यायासकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ॥१२६॥

इस व्याख्या में आये हुये अनादि प्रसिद्ध पौद्गलिक कर्मबन्धनोपाधि, परारोपितविकार, उपरक्तचित्स्वभाव, उपरक्तचित्परिणमनस्वभाव तथा स्फटिकमणि के दृष्टान्त पर विचार करेंगे तो शीघ्र ही स्वय आप को बोध हो जायगा कि ससारी आत्मा कैसा है, और मोक्ष में आत्मा कैसा है। एकत्व दोनों पद्धति मे है। यथापि संसार का एकत्व उपाधि से मिला उपरक्त है। मोक्ष का एकत्व उपाधि के ध्वस से सुविशुद्ध है। यदि बंध का स्वरूप विस्तार से जानना हो तो प्रवचनसार ग्रंथ की १७५ गाथा से लेकर १८० गाथा तक पढ़ लीजिये। स्वयमेव सब निर्णय हो जायगा। इस ऊपर लिखित टीका का अर्थ भी ग्रन्थ में से देख लेवें वा समझ लेवे। तब क्षणिक संसार न कह कर अनादि का संसार संतति की अपेक्षा

बीजवृक्षवत् कहना पड़ेगा। कथंचित् नवीन नवीन बंध की अपेक्षा सादि भी है। विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखा है।

बंधमार्ग-मोक्षमार्ग

यदि कदाचित् बंध भी स्वीकार कर लेवें, तब भी यदि पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय में कारण कार्यपना न मानेंगे तब भी बंधमार्ग वा मोक्षमार्ग का स्वरूप नहीं बन सकता। बंध के कारण अर्थात् उपायों का नाम बंधमार्ग है, तथा मोक्ष के कारण अर्थात् उपायों का नाम मोक्षमार्ग है। बंध और मोक्ष कार्य हैं। तथा बंधमार्ग और मोक्षमार्ग कारण हैं। अब हम फिर मूल विषय पर आते हैं। हमें मिथ्यादृष्टि जैनाभासी के शुभोपयोग का विचार नहीं करना है, यद्यपि श्री धवलशास्त्र करणानुयोग में शुक्ललेश्यावाले द्रव्यलिङ्गी के शुभोपयोग को तीव्रबंध का कारण नहीं कहा है, उससे केवल अंतःकोडाकोडीसागरप्रमाण ही स्थितिबंध होता है। तथा ग्रैवेयकों में जन्म लेने पर अंतःकोडाकोडीसागार प्रमाण ही स्थितिसत्व रह जाता है। इस शुभोपयोग ने ही तो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी को उच्चस्थानों पर पहुचाया है। तब क्या शुभोपयोग ने कुछ कार्य नहीं किया। अथवा भावलिंगी के शुभोपयोग क्षणिक होता है, इसी तरह द्रव्यलिंगी का शुभोपयोग क्षणिक है, तो नाश होने की अपेक्षा तो अन्तर दीखता नहीं है। तब फिर कदाचित् (नीचे की भूमिका में) ज्ञानी के भी शुभोपयोग होता है, ऐसा उपदेश कैसे दिया। पंचास्तिकाय गाथा १३६ में इस प्रकार कहा है:—

अरंहतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ॥
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥

टीका:—अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिर्धर्मे व्यवहारचारित्रानुष्ठाने वासना प्रधाना चेष्टा। गुरूणामाचार्यादीनां रसिकत्वेनानुगमनं। एषः प्रशस्तो रागः प्रशस्तविषयत्वात्। अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्राधान्यस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानराग-निषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति ॥१३६॥

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, साधुओं मे भक्ति, धर्म अर्थात् व्यवहार-चारित्र के आचरण में वासना (प्रधान चेष्टा) तथा गुरु आचार्यादिक के रसिकपने से अनुगमन करना, यह प्रशस्त राग है इस राग के विषय प्रशस्त होने से। यह स्थूल लक्ष्यपने से केवल भक्ति को ही प्रधान करने वाले अज्ञानी के होता है। उपरितन भूमिका (क्षीणमोहादि गुणस्थान) नहीं प्राप्त करने वाले ज्ञानी के भी कदाचित् अस्थान (कुदेवादि) में रागनिषे-धार्थ तथा (विषय भोगसबधी) तीव्ररागज्वर के दूर करने के लिये होता है ॥१३६॥ नीचे की भूमिका में (चतुर्थ गुणस्थान से यथाख्यातचारित्र से नीचे तक) विहार करते हुवे ज्ञानी के संसार समुद्र में डूबे हुए संसारी जीवों के किंचित् मन को खेद अर्थात् अनुकपा होता है। भावार्थ—ससारी जीवों के उद्धार करने की इच्छा होती है, और उपदेश तथा शास्त्ररचना द्वारा ससारी जावों का तथा निज का कल्याण करते हैं ॥ १३७ ॥

कषायोदय के अनुसार संपूर्ण नहीं बदला है (पूर्ण शुद्ध नहीं हुवा है) उपयोग जिनका ऐसे ज्ञानी के भी कदाचित् नीचे की भूमिकाओं में शुभोपयोग होता है। श्री तत्वार्थराजवार्तिक के प्रारंभ में श्री अकलक स्वामी कहते हैं:—

नात्र शिष्याचार्यसंबंधो विवक्षितः। किन्तु संसार-

सागरनिमग्नानेकप्राणिगणाभ्युज्जिहीर्षाप्रत्यागूर्णोन्तरेण मोक्षमार्गोपदेश, हितोपदेशो दुष्प्राप्य इति निश्चित्य मोक्षमार्गं व्याचिख्यासुरिदमाह :—

अर्थः—यहां शिष्य आचार्य का सबध विवक्षित नहीं है। किन्तु संसार समुद्र मे डूबे हुवे अनेक प्राणि समूह के उद्धार करने की इच्छा के प्रति उद्यत मोक्षमार्ग के उपदेश के बिना हितका उपदेश दुर्लभ है ऐसा निश्चय करके मोक्षमार्ग के व्याख्यान करने की इच्छावाले आचार्य यह सूत्र कहते है।

इस तरह ज्ञानी आचार्यों के भी उद्धार करने की इच्छा रूप तथा मोक्षमार्ग की व्याख्या की इच्छारूप शुभोपयोग की परिणति बताई है। श्रीविद्यानदस्वामी आप्तपरीक्षा के प्रारंभ मे कहते है :—

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ॥

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥

प्रसन्नेन मनसोपास्यमानो भगवान् प्रसन्न इत्यभिधीयते।

अर्थ—परमेष्ठी के प्रसाद से श्रेयोमार्ग की सम्यक् सिद्धि होती है। इसलिये मुनिश्रेष्ठ शास्त्र की आदि मे परमेष्ठी के गुणो के स्तवन को कहते हैं। प्रसन्न मन से उपासना किये जाते हुवे भगवान् 'प्रसन्न' कहे जाते हैं।

इससे मगल की आवश्यकता बताई है। यह भी स्तोत्र ज्ञानी के होता है। पूजा के अत मे शाति पाठ मे कहते हैं:—

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनं ॥

तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ॥

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां दृष्टगुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ।।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे,
संपद्यंतां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ।।

इन पद्यों का अर्थ स्पष्ट ही है यह ज्ञानी जीव की शुभोपयोग परिणति का जीता जागता चित्र है। समयसार मे भी गाथा १७१ की टीका मे यथाख्यातचारित्र के नीचे अवश्यंभावी रागसद्भाव बताया है।

शुभोपयोग जो सम्यग्दृष्टि के होता है, उसका स्वरूप ही ऐसा है, सो ही प्रवचनसार गाथा १५७ में कहा है:—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ।। १५७ ।।

टीका :— विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीतशोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः ।१५७।

अर्थ—विशिष्ट क्षयोपशमदशा में रहने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय रूप पुद्गलो के अनुसार परिणति मे लगा होने से शुभ उपराग के ग्रहण किये हुए होने से जो उपयोग परमभट्टारक महादेवाधिदेव परमेश्वर अर्हत सिद्ध का और साधु की श्रद्धा करने में तथा समस्त जीव समूह की अनुकम्पा का आचरण करने में प्रवृत्त है वह शुभोपयाग है ।।१५७।। यह भावलिंगी का शुभोपयोग है, यह कैसे जाना ? टीका में

पड़े हुवे क्षयोपशम शब्द से जाना। यह द्रव्यलिंगी के नहीं होता है।

श्रीपूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में भी शुभोपयोग करने की ही प्रेरणा की है :—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ॥
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

अर्थ—व्रतों से देव पद उत्तम है और अव्रतों से नारक पद उत्तम नहीं है। जैसे मित्र की प्रतीक्षा करने वाले मार्ग में छाया वा धूप में बैठे हुये दो पुरुषों में महान् भेद है। उसी तरह व्रत (शुभोपयोग) और अव्रत (अशुभोपयोग) में महान् भेद है।

चरणानुयोग के प्रसिद्ध ग्रंथ मूलाचार में इस शुभोपयोग को ही समाधि काल में विशेषरूप से समर्थित किया है :—

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण ॥
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥ ७२ ॥

टीकाः— जिनप्रवचने येऽनुरक्ताः (सुष्ठु भक्ताः) गुरुवचनं च भावेन (भक्त्या) कुर्वन्ति, अशबलाः (मिथ्यात्वरहिता) असङ्क्लिष्टाः सन्तस्ते परित्यक्तसंसारा भवन्तीति।
॥ ७२ ॥

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी ॥
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥ १०७ ॥

अर्थ—जो जिन प्रवचन में अनुरक्त हैं (अच्छी तरह भक्त हैं।) और गुरुवचन को भाव से (भक्ति से करते हैं) पालते हैं। वे मिथ्यात्वरहित संक्लेश परिणाम रहित संसार से पार होते हैं।

क्षपक कहता है, मैं और कुछ नहीं याचना करता (मैं तो एक यही चाहता हूँ कि, जो अर्हंतों की गति है, (निष्ठितार्थ) (कृतकृत्य सिद्धों की) जो गति है, जो वीतरागों की गति है वह मेरी शाश्वत गति होवो ॥१०८॥

यह शुभोपयोग नहीं तो क्या है। इस प्रवृत्ति से साध्य संयम ही तो है।

श्रीगुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में कहते हैं :—

पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् ॥
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशःसुखायार्थम् ॥ ३० ॥
पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि ।
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै ॥
संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः ।
पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—चुगली, याचना, छल, चोरी, झूठ, पाप आदि के त्याग से धर्म, अर्थ, यश, सुख के लिये और अर्थ (आनंद) के लिये दोनो लोकों के हित को अर्जन करो ॥३१॥ पुण्य करो। पुण्य करने वाले को बड़ा उपद्रव भी पीड़ा नहीं देता है। विशेष समृद्धि के लिये होता है। देखो! समस्त संसार को संताप देने वाला सूर्य कमलों में विकास की शोभा को करता है।

श्रीपात्रकेशरी स्वामी पात्रकेशरिस्तोत्र में कहते हैं :—

जिनेन्द्र! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता।
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम् ॥
इति व्यवसितामतिर्मम ततोऽहमत्यदारात् ।
स्फुटार्थनयपेशलां सुमत ! संविधास्ये स्तुतिम् ॥

हे जिनेन्द्र ! आपकी थोडी सी भी की गई गुणों की स्तुति कर्मों के संपूर्ण क्षय के लिये कारण होती है। अब मैं आप की अर्थ पूर्ण स्तुति अवश्य करूंगा। ऐसी मेरी बुद्धि सुनिश्चित हो गई है।

सो ही निन्दारूप मे इस प्रकार स्तुति की है :—

व्रतेषु परिरज्यसे निरुपमे च सौख्ये स्पृहा।
बिभेष्यपि च संसृतेरसुभृतां वधं द्वेक्ष्यपि॥
कदाचिददयोदयो विगतचित्तकोऽप्यञ्जसा।
तथाऽपि गुरुरिष्यसे त्रिभुवनैकबन्धुर्जिनः॥ ३॥

अर्थ—आप व्रतों मे रागी हो, निरूपम सुख के अभिलाषी हो। तथा ससार से डरपोक हो, प्राणियों की हिसा के द्वेषी हो, विरोधी हो। कदाचित् अदता (असाता) का उदय आपके है और धन रहित दरिद्री हो अथवा चित्त (होश लक्ष्य) रहित हो, तथापि परमार्थ से गुरु (महान) त्रिभुवन के एक बधु (मित्र), जिन (विजेता) माने जाते हो॥ ३॥ ऐसी यह स्तुति भी चर्मघट मे (फुटबॉल वा ट्यूब मे) भरी हुई अन्तर्वायु के समान ससार समुद्र से पार होने के लिये कारण होती है। अतः नीचे की भूमि मे इस शुभोपयोग को नहीं छोड़ना चाहिये। सो ही प० भागचन्द्र जी ने पद में कहा है।

परनति सब जीवन की तीन भांति वरनी॥ एक पुण्य, एक पाप, एक रागहरनी॥ परनति०॥ टेक॥ तामें शुभ अशुभ अंध, दोय करैं कर्मबंध, वीतराग परनति ही, भवसमुद्र तरनी॥ १॥ जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग, तावत ही करन जोग, कही पुण्य

करनी ॥ २ ॥ त्याग शुभ क्रियाकलाप, करो मत कदा च पाप, शुभमें न मगन होय, शुद्धता न विसरनी ॥ ३ ॥ ऊंच ऊच दशा धारि, चितप्रमाद को विडारि, ऊंचली दशातैं मति, गिरो अधो धरनी ॥ ४ ॥ भागचन्द या प्रकार, जीव लहै सुख अपार, याके निरधार स्याद्वाद की उचरनी ॥ ५ ॥ परनति० ॥ द्वितीय पद ॥

अति संक्लेश विशुद्ध शुद्ध पुनि त्रिविध जीव परिनाम बखाने ॥ अति० ॥ टेक ॥ तीव्र कषाय उदयतैं भावित, दर्वित हिंसादिक अघ ठाने ॥ सो संक्लेश भावफल, नरकादिक गति दुःख भोगत असुहाने ॥ अति० ॥ शुभ उपयोग कारनन में जो, राग कषाय मंद उदयाने ॥ सो विशुद्ध तसु फल इंद्रादिक, विभव समाज सकल परिमाने ॥ अति० ॥ २ ॥ परकारन मोहादिक तैं च्युत, दरसन ज्ञान चरन रसपाने ॥ सो है शुद्धभाव तसु फलतैं, पहुंचत परमानंद ठिकाने ॥ अति संक्लेश० । ३ ॥ इन में जुगल बंध के कारन परद्रव्याश्रित हेय प्रमाने ॥ भागचंद स्वसमय निजहित लखि, तामें रम रहिये भ्रमहाने ॥ अति० ॥ ४ ॥ इति ॥

इन पदों का भाव स्पष्ट ही है, शुभोपयोग को हेय कहते हुए भी शुद्ध उपयोग का कारण बताया है। और जब तक शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं हो तबतक उपादेय भी बताया है, ऐसे शुभोपयोग का भी फल इस पंचमकाल मे लौकांतिक देव तथा इंद्रपद की प्राप्ति बताई है। षट्पाहुड (मोक्षपाहुड) में ऐसा कहा है :—

अजवि तियरणशुद्धा अप्पाणं ज्झाइऊण जंति सुरलोये ॥
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुया णिव्वुदिं जंति ॥ ७७ ॥

आज भी तीन करण (मन, वचन, काय) से शुद्ध जीव आत्मा को ध्यान करि सुरलोक में जाते हैं वा लौकांतिक देवपद को पाकर वहाँ से च्युत हुवे निर्वाण को जाते हैं। श्री मोक्षमार्ग प्रकाश के ७ वे अधिकार में" पंडित टोडरमल्ल जी" ने भी स्पष्ट लिखा है :—

शंका—शास्त्रविषैं शुभ अशुभकौ समान कह्या है तातै हमकौ तो विशेष जानना युक्त नाहीं। ताका समाधान—जे जीव शुभोपयोगकौं मोक्ष का कारण मानि उपादेय मानै है, शुद्धोपयोग क्यों नाहीं पहिचानै हैं। तिनिकौ शुभ अशुभ दोऊनि क अशुद्धता की अपेक्षा वा बंधकारण की अपेक्षा समान दिखाइये हैं। बहुरि शुभ अशुभनि का परस्पर विचार कीजिये तो शुभ भावनि के विषैं कषायमंद हो है तातैं बधहीन हो हैं। अशुभ भावनि विषै कषाय तीव्र हो है तातैं वध बहुत हो है। ऐसै विचार किये अशुभ की अपेक्षा सिद्धान्त विषै शुभकौ भला भी कहिये। जैसे रोग तौ थोरा वा बहुत बुरा ही है। परन्तु बहुत रोग की अपेक्षा थोरा रोग कू भला भी कहिये। तातै शुद्धोपयोग नाहीं होय, तब अशुभ तै छूटि शुभ विषै प्रवर्त्तना युक्त है। शुभकौं छोरि अशुभविषै प्रवर्त्तना-युक्त नाहीं। ज्ञानी के चाहि नाहीं, अर शुभोपयोग चाहि किये होय सो जैसे पुरुष किंचिन्मात्र भी अपना धन दिया चाहै नाहीं, परतु जहाँ बहुत द्रव्य जाता जानैं तहाँ चाहि करि स्तोक द्रव्य देने का उपाय करै है। तैसे ज्ञानी किंचिन्मात्र भी कषायरूप कार्य किया चाहै नाहीं। परंतु जहाँ बहुत कषायरूप अशुभ कार्य होता जानै तहाँ चाहि करि स्तोक कषायरूप शुभ

कार्य करने का उद्यम करै। ऐसे यह बात सिद्ध भई कि जहाँ शुद्धोपयोग होता जानै तहाँ तौ शुभ कार्य का निषेध ही है। अर जहाँ अशुभोपयोग होता जानै तहाँ शुभकौ उपाय करि अंगीकार करना युक्त है। शुभोपयोगतैं स्वर्गादि होय वा भली वासनातैं वा भला निमित्त तै कर्म की स्थिति अनुभाग घटि जाय तौ सम्यक्त्वादिक की भी प्राप्ति हो जाय। इत्यादि॥

इस कथन से नीचे की दशा मे शुभोपयोग की अवश्यकता दिखाई है। परतु कोई इसी मे अटक जाय, उसको शुभ का निषेध भी पचास्तिकाय में करते है:—

जस्स हिदयेणुमत्त वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो॥
सो णवि जाणदि समय सगस्स सव्वागमधरो वि॥१६७॥

यस्य खलु रागरेणुकणिकापि जीवति हृदये, न नाम स समस्तसिद्धान्तसिन्धुपारगोऽपि निरुपरागशुद्धस्वरूप स्वसमयं चेतयते। ततः स्वसमयसिद्ध्यर्थं पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्यायमभिदधताऽर्हदादिविषयेऽपि क्रमेण रागरेणुरपसारणीय इति॥ १६७॥

अर्थ—जिसके हृदय में रागधूल की कणिका भी जीती है वह पुरुष समस्त सिद्धान्त शास्त्र का पारगामी भी वीतराग शुद्धस्वरूप वाले स्वसमय को नहीं चेतता है। इसलिये स्वसमय की सिद्धि के लिये पिञ्जन मे लग्न रुई के त्याग न्याय को कहते हुए आचार्य ने अर्हत आदि विषय में क्रम से रागाश हटाना चाहिये ऐसा कहा है॥ १६७॥

यहाँ क्रम से अर्हदादि भक्ति का भी त्याग बताया है। अतः कहाँ किस दृष्टि से व्याख्यान है ऐसा समझ कर निर्णय कर ग्रहण करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करेगे, वे अपना

सर्वस्व खो देवेगे। इस विषय में एक कथा याद आ गई है, "हिसाब ज्यों का त्यों, कुनबा डूबा क्यों ?" एक गणितज्ञ नदी पार कर रहा था, साथ में स्त्री और बच्चे भी थे। नाव थी नहीं। नदी में प्रवेश कर उस पुरुष ने जल को अपनी दृष्टि से नापा कि कमर भर पानी है। बच्चों की दृष्टि से विचार नहीं किया। जब वे बच्चों को बीच में कर हाथ पकड कर नदी पार करने लगे तब बीच धारा में बच्चे बह गये और स्त्री भी बह गई। वह पुरुष उसपार जाकर पश्चाताप करता हुवा कहता है, कि हिसाब ज्यों का त्यों, कुनबा डूबा क्यों ?

सारांस यह है इन नयों का प्रयोग खूब समझ कर करना चाहिये।

प्रयोजन

इस तरह अस्थानमें रागनिषेधार्थ भावलिंगी के शुभोपयोग करने का उपदेश दिया है। उपदेश का प्रयोजन मोक्षमार्ग को पुष्ट करना ही है। भावलिंगी के शुभोपयोग को विशेषरूप से सूक्ष्मरूप से विचारते हैं तो हमें यही प्रतिभास होता है कि सम्यक्त्व के होने पर ज्ञानी का शुभोपयोग नीचे की ४१ प्रकृतियों का अबधक ही है। तथा अंतःकोडाकोडी सागर रूप अल्पस्थिति वाला बंध करने से बध का मार्ग नहीं है। क्योंकि शुभोपयोग का लक्षण परमेष्ठी की आराधना रूप है, वीतरागता मे राग करना है। अतः बध की परपरा नहीं बनती है। मोक्षमार्ग सहज बन जाता है। क्योंकि कषाय निवृत्ति का अंश प्रधान है। प्रकृति अंश का स्वामी नहीं होने से मोक्ष का उपाय ही साक्षात् कर रहा है। अतः बंध भी बंध नहीं है। जैसे कटुक औषधि की प्रवृत्ति रोगविनाशार्थ है। युक्त्यनुशासन में कहा है :—

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ॥
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासङ्गगदितः ॥ ६४ ॥

भव की पाश (रागादि) छेदनेवाले मुनि आप मे हमारा स्तोत्र राग से नहीं होता है। और अन्यों में द्वेष से दोषों के कथाभ्यास की खलता भी नहीं है। न्याय अन्याय के प्रकृत गुण दोषों के जानने के मनवालों के हित ढूंढने का उपाय क्या है ? यह तुम्हारी कथा के सबध से कह दिया है। अतः राग मे राग नहीं है। वीतरागता में राग है। प्रवचनसार गाथा २२७ में यही कहा है कि सम्यग्दृष्टि युक्ताहार विहार वाला साक्षात् अनाहार विहार है। अर्थात् खाता हुवा भी नहीं खाता है, जाता हुवा भी नहीं जाता है। इसी तरह बोलता हुवा भी नहीं बोलता है। भोगता हुवा भी नहीं भोगता है। श्री १०८ कुंदकुंद स्वामी ने समयसार निर्जराधिकार गाथा १९७ में वही बात कही है :—

सेवंतो विण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई ॥
पगरणचेट्ठा कस्सवि णय पायरणोत्ति सो होई ॥

अर्थ—सेवन करता हुवा भी कोई सेवक नहीं होता है (स्वामीपना नहीं होने से) तथा (स्वामीपना होने से) नहीं सेवन करता हुवा भी सेवक होता है। प्रकरण (पगत-उत्सव) आदि को के चेष्टा है तथापि प्राकरणिक स्वामी नहीं होता है, और चेष्टा नहीं है तोभी स्वामी होता है। यह तो ज्ञानी के शुभोपयोग की बात हुई ॥

अब अशुभोपयोग की बात भी देखिये। ज्ञानी कषाय तीव्र करता है, दुर्ध्यान करता है, विषय भोगता है, ईर्षा भी करता है, परन्तु उस समय भी ज्ञान स्वभाव में श्रद्धा रखने से मोक्षपथ से विचलित नहीं होता है। और उस अशुभोपयोग के काल में भी ४१ प्रकृतियों का बंध भी नहीं करता किंतु असख्यातगुणी निर्जरा करता है। संवर निर्जरा तत्त्व दोनों ही ज्ञानी के सिद्ध हो गये। अभी ज्ञानी आत्मा चारित्र मोहनीय कर्मोदय से निर्बल है, वेदना सहने में असमर्थ है। तब अशुभोपयोग करता हुवा भी अज्ञान के अभाव से उसका कर्त्ता नहीं है। और भोक्ता भी नहीं है, सोही समयसार गाथा ३१८ मे कहा है—वैराग्यसहित ज्ञानी जीव बहुत प्रकार उदित मधुर (शुभ) कटुक (अशुभ) कर्मफल को जानता है। अत प्रकृति स्वभाव मे विरक्त होने से वह अवेदक (अभोक्ता) होता है। इस तरह ज्ञानी अवेदक ही है ऐसा नियम है। इस प्रकार बधका मार्ग और बंध मे बहुत अतर है। आशा है इससे बंध का निर्णय हो जायेगा।

चरणानुयोग से विचार

चरणानुयोग से शुभोपयोग अशुभनिवृत्ति रूप है। तथा शुभोपयोग सहित आत्मपरिणति ही सम्यक्चारित्र है।

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्तीय जाण चारित्तं ॥

(द्रव्यसंग्रह)

कोई ऐसे चारित्र को देहाश्रित व्यवहार चारित्र कह कर हेय बताते हैं, यह भूल है। उपयोग तो आत्मा है। शुभ अशुभ परिणति आत्मा है। तब क्या ज्ञानी की क्रिया में देहाश्रितपना हुवा, सो तो बिलकुल ही समझ में नहीं आता।

गुणस्थानों की परिपाटी मे चौथा, पाँचवाँ, सातवाँ, छट्टा आदि गुणस्थान आत्माश्रित ही हैं। यदि एकदम पूर्ण शुद्ध सिद्धों के सदृश ज्ञानी की परिणति तथा शुद्धोपयोग को धर्म वा मोक्षमार्ग कहोगे तो वहाँ तो मोक्ष हो ही गया, कार्यरूप समयसार हो ही गया, फिर मार्ग कैसा? केवली भगवान् के भी उठना, बैठना, बोलना आदि क्रियाएँ है। उन्हे केवल देहाश्रित ही कहोगे तो भगवान् के शरीर से निकली हुई दिव्यध्वनि को पौद्‌गलिक होने से, भगवान् की है अतः प्रमाण है, ऐसा नहीं कह सकते। ध्वनि अलग रही, भगवान् अलग आत्मस्वरूप रहे। तब चरणानुयोग में कथित या अन्य अनुयोगों मे कथित सब बाते ऐसी ही ठहरती हैं जैसे कि वर्तमान में मशीन की सब बाते और क्रियाएँ। इस प्रकार वक्ता की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता न होकर स्वय वचन की प्रमाणता हो जावेगी सो है नहीं। प्रमाणता परतः होती है, ऐसा पहले दिखा चुके है। वचनों से वक्ता की प्रतीति होती है, यह भी सभव नहीं होगा।

श्री धवलशास्त्र की पुस्तक १ मे आत्मप्रवाद के लक्षण में पृष्ठ ११८ पर गाथा कही है, उसमें जीव का नाम पुद्‌गल भी कहा है। अत्रोपयोगी गाहा :—

जीवो कत्ता वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो ॥
वेदो विण्हू सयभू य सरीरी तह माणओ ॥ ८१ ॥
सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकडो ॥
असंकडो खेत्तण्हू अंतरप्पा तहेव य ॥ ८२ ॥

पुद्‌गल शब्द का अर्थ ऐसा कियाहै कि छव्विह संठाणं बहुविहदेहेहिं पूरदि गलदित्ति य पोग्गलो ॥ (व्यवहारनय से)

नाना प्रकार के शरीरों के द्वारा छः प्रकार के संस्थान को पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिये पुद्गल है। और निश्चयनय से अपुद्गल है। इसी तरह शरीर भी जीव के साथ रहने से व्यवहारनय से जीव है। इस कथन में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार करणानुयोग चरणानुयोग में निमित्त-प्रधान कथन प्रमाणभूत है।

व्यवहार रत्नत्रय प्रथम होता है तब निश्चय रत्नत्रय होता है। ऐसे क्रम से होने पर दोनों व्यवहार व निश्चय एक साथ रहते हैं। आगे पीछे होने वाले व्यवहार निश्चय कारण कार्य रूप हैं। तथा एक साथ रहने वाले व्यवहार निश्चय भेदाभेद रूप हैं। यदि व्यवहार अपना कार्य निश्चय को उत्पन्न नहीं करे तो व्यवहाराभास है। तथा भेदरूप व्यवहार के विना भी निश्चय निश्चयाभास है। यदि कोई कहे कि व्यवहार का कारण क्यों कहा? समाधान:—मिथ्यात्व से जब कोई जीव सम्यक्त्वधारण कर चतुर्थ पंचम या सप्तम गुणस्थानी बनता है, तब आप ही बताइये कि देशनालब्धि आदि पाँचों लब्धि कहाँ हुई तथा भेदविज्ञान, तत्त्वचर्चा का अभ्यास कहाँ किया, क्योंकि मिथ्यात्व के साथ सब अज्ञान और असयम हैं। आत्मा भी अशुद्ध है। कर्म चेतना, कर्मफल चेतना का स्वामी है, कर्त्ता है, भोक्ता है। सम्यक्त्व होते ही लब्धि आदि आगम में कहीं निर्दिष्ट नहीं हैं। तथा मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच कोई काल है नहीं, जिस में देशना तत्त्वचर्चा आदि बने। ये सब पूर्वावस्था ही की तो बातें हैं। इसीलिये यह भी सिद्ध होता है कि सम्यक्त्व का उपादान मिथ्यात्व है, ज्ञान का उपादान अज्ञान है, सयम का उपादान असयम है और वीतराग का उपादान राग है, इत्यादि।

तब शकाकार यह कहै कि ऐसा हो ही नहीं सकता कि मिथ्यात्व सम्यक्त्व हो जावे। अज्ञान ज्ञान हो जावे। असयम संयम हो जावे। राग वीतराग हो जावे। इत्यादि।

समाधान सक्षेप में यही है कि पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय के लिये उपादान होती है, ऐसा आगम का वचन है। श्री समतभद्रस्वामी ने आप्तमीमासा में कहा है:—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक् ॥
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

उपादान कारण के क्षय को कार्य का उत्पाद कहते हैं। नियम से लक्षण की अपेक्षा दोनों उत्पाद व्यय पृथक् हैं। जाति आदि के अवस्थान से अर्थात् सामान्य की अपेक्षा उत्पाद व्यय दोनों नहीं है। निरपेक्ष खपुष्प की तरह शून्य हैं॥ ५८ ॥

अभाव नाम का पदार्थ ६ द्रव्यों को छोड़ कर और कोई है नहीं। अभाव उत्तरपर्याय की सत्तारूप पड़ता है। अत अभावरूप उत्तरपर्याय कार्य है। ऐसा सर्वथा प्रसज्यपक्षरूप तुच्छाभाव अभाव का अष्टसहस्री प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि जैन न्यायग्रन्थों में निषेध किया है। इसलिये अभाव को जो उपादान मानते हैं, वे बड़ी भूल में हैं। यदि सम्यक्त्व हो ही गया तब उपादान की चर्चा क्या? मिथ्यात्व में ही मिथ्यात्व के नाश का उपाय होता है। कषाय से ही कषाय मिटती है। इत्यादि। कारण अनेक होते हैं। प्रत्येक पर्याय की उत्पत्ति में उपादान कारण और अनेक निमित्त कारण मानना चाहिये। इसी को मोक्षमार्ग प्रकाश मे पं० टोडरमल्ल जी ने सातवें अधिकार मे पृष्ठ २६३ पर लिखा है:—तब ऐसा

मानै ए रागादिक भाव आत्माका स्वभावतो है नाहीं, कर्म के निमित्तैं आत्मा के अस्तित्व विषैं विभावपर्याय निपजै है। निमित्त मिटे इनका नाश होतैं स्वभाव भाव रहि जाय है। तातैं इनके नाश का उद्यम करना। यहाँ प्रश्न—जो कर्म का निमित्त तैं ए हो हैं, तौ कर्म का उदय रहै तावत् विभाव दूरि कैसें होय? तातैं याका उद्यम करना तो निरर्थक है। ताका उत्तर—एक कार्य होने विषैं अनेक कारण चाहिये हैं। तिनि विषैं जे कारण बुद्धि पूर्वक होंय, तिनिकौं तो उद्यमकरि मिलावें अर अबुद्धि पूर्वक कारण स्वयमेव मिलैं, तब कार्य सिद्धि होय। जैसें पुत्र होने का कारण बुद्धि पूर्वक तौ विवाहादि करना है अर अबुद्धि पूर्वक भवितव्य है। तहाँ पुत्र का अर्थी विवाहादिक का तो उद्यम करै, अर भवितव्य स्वयमेव होय, तब पुत्र होय। तैसें विभाव दूरि करने के कारण बुद्धि पूर्वक तौ तत्त्व विचारादिक हैं, अर अबुद्धि पूर्वक मोह का उपशमादिक हैं। सो ताका अर्थी तत्वविचारादिक का तो उद्यम करै अर मोह कर्म का उपशमादिक स्वयमेव होंय, तब रागादिक दूर होंय, इस प्रकार अनेक कारणों का समर्थन किया है।

यदि अनेक कारणों से कार्य नहीं होता तो श्री कुंदकुंद स्वामी पचास्तिकाय में गाथा १२८ में संसार की उत्पत्ति के

वर्णन में इंद्रिय कर्म नोकर्म आदि न लिखते, केवल रागद्वेष मोह रूप परिणाम ही लिखते। इसी को स्पष्ट करते हैं :—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ॥
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥ १२८ ॥

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ॥
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२९ ॥

जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ॥
इदि जिणवरेंहि भणिदो अणादिणिधणो सनिधणो वा ॥१३०॥

यह तो आस्रव के स्वरूप का वर्णन हुवा। अब संवर का स्वरूप समयसार मे इससे विपरीत दिखाते हैं :—

तेसि हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहि ॥
मिच्छत्त अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥

हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ॥
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१९१॥

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ॥
नोकम्मणिरोहेण य ससारणिरोहणं होई ॥१९२॥

टीका :—सति तावज्जीवस्य आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि । तानि रागद्वेषमोहलक्षणास्यास्रवभावस्य हेतवः । आस्रवभावः कर्महेतुः । कर्म नोकर्महेतुः । नोकर्म संसारहेतु इति

ततो नित्यमेवायमात्मा, आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति। ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभाव भावयति। ततः कर्म आस्रवति। ततो नोकर्म भवति। ततः ससारः प्रभवति। यदा त्वात्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मान उपलभते, तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानामध्यवसानानामास्रवभावहेतूनां भवत्यभावः। तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः। तदभावेऽपि भवति कर्माभावः। तदभावेऽपि भवति नोकर्माभावः। तदभावेऽपि भवति ससारभावः। इत्येष सवरक्रमः। इसका अर्थ स्पष्ट ही है। आगे निमित्ताकारण का भी निमित्तकारण इस प्रकार से निर्देश किया है, गाथा १६५ की टीका :— रागद्वेषमोहा आस्रवाः। इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः अजडत्वे सति चिदाभासाः, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः, ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवाः। तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं। अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहा। तत आस्रवणनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवाः। ते च ज्ञानिन एव भवतीति अर्थादेवापद्यते ॥ (इसका अर्थ भी स्पष्ट सुगम है)।

यहाँ कारण और कर्ता शब्द मे कोई अतर नहीं है। कारण का अर्थ कर्त्तापरक कई स्थानों पर किया है, जैसे—गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११२ ॥ गुणस्थान निमित्त हैं, इन्हीं

को कर्त्ता (कुव्वंति) कहा है। अथवा कारीषाग्निरध्यापयति। दण्डः घट भिनत्ति। कबलवतं न बाधते शीतः।

निमित्तकर्ता, उपादानकर्ता ऐसे दो कर्ता कहने से कोई आगम विरोध नहीं है। गाथा २५-२६ में जो दो कर्त्ता का निषेध है, वह दो उपादान की अपेक्षा से है। १ उपादान और १ निमित्त की अपेक्षा से नहीं है। ५१५२-५३-५४ कलशों से भी यही अर्थ स्पष्ट प्रगट होता है, सो यथार्थ समझ लेना चाहिये।

अतः वास्तव में उपादान कर्ता पूर्वपर्याय हुई। निमित्त-कर्ता उसी द्रव्य की अन्य पर्याय, तथा अन्य द्रव्यों की अनेक पर्यायें हुई। इस से एक द्रव्य के दो कर्त्तापने की सिद्धि नहीं होती है। यदि दो उपादान कर्ता कहते तो आगम विरोध होता। इस प्रकार निश्चय व्यवहार रत्नत्रय दोनों ही मोक्षमार्ग हैं। व्यवहार कारण (साधक) है। निश्चय कार्य (साध्य) है। सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यात्वावस्था का व्यवहार व्यवहाराभास नहीं है। विलक्षण व्यवहार है। उसी मिथ्यात्व की अतिक्षीण अनुभागवाली दशा सम्यक्त्व की उपादान है। इस तरह व्यवहार पूर्वक निश्चय होता है। यह कथन निर्विरोध है। इति विज्ञेष्वल विस्तरेण॥

यहाँ विस्तार भय से कितने ही स्थानों पर अर्थ करना तथा प्रमाण स्वरूप गाथा देना रह गया है, सन्क्षेप करते-करते भी लेख का कलेवर बढ़ गया है, सो पाठकगण क्षमा करें। तथा इसमें उल्लिखित समाधानो से अपने चित्त को निःसन्देह और निर्विरुद्ध बनावेंगे तो अपना प्रयत्न सफल समझूंगा। ज्ञानियों को तो इतना सकेत ही पर्याप्त है, इसी से अन्य प्रश्न भी समाधान हो जावेंगे। ऐसी आशा है॥ जैनं जयतु शासनम्॥

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

मिती चैत्र कृष्णा ३० ता० ३१-३-५७ को दि० जैन उदासीनाश्रम ईसरी में पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी का श्री समयसार जी की गाथा नं० २७८, २७९ तथा कलश १७४, १७५ पर मध्याह्न मे किया हुवा प्रवचन।

रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः॥

यहाँ पर "रागादिक बंध के कारण हैं"—यह श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है। **रागादयो**—रागादिक कैसे हैं, **शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः** शुद्धचैतन्यमात्रमह (ज्योति) उससे अतिरिक्त है। यहाँ पर शुद्ध से तात्पर्य 'केवल' का है। उन रागादिक के होने में **'आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तं'** ऐसा किसी ने प्रश्न किया कि रागादिक होने में आत्मानिमित्त है या और कोई निमित्त है? ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य उत्तर देते हैं:—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं॥ २७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं॥
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहि दोसेहिं॥ २७९॥

टीका—यथा खलुकेवलः स्फटिकोपल परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागा-

दिभिः स्वयं न परिणमते। परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते। तथा केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वय न परिणमते। परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते, इति तावद्वस्तुस्वभावः।

जैसे स्फटिक मणि केवल स्वयं शुद्ध है। **रागाद्यो**—रागादि रूप जो लाल परिणमन हैं, उनका **स्वय न परिणमन्ते** परिणमते स्वयं ही हैं परन्तु **निमित्तमंतरेण न परिणमन्ते इत्यर्थः**। स्फटिक मणि स्वय रागादिक रूप न परिणमेगी, परतु **स्वयं न परिणमते** इसका अर्थ है— पर के संबन्ध विना स्वय नहीं परिणमती। परिणमे स्वय परन्तु पर के निमित्त विना नहीं। **यथा मृत्तिका स्वयं घटरूपेण परिणमते**=मट्टी ही घटरूप परिणमती है। यह बात नहीं है कि मृत्तिका घटरूप परिणमन को प्राप्त नहीं होती परन्तु **कुम्भकारादिव्यापारमंतरेण स्वयं न परिणमते इत्यर्थः**। कुम्भकारादि के व्यापार विना केवल अपने आप तद्रूप परिणम जाय, यह बात नहीं है।

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रागमादीहि ॥

इसी तरह से आत्मा स्वय रागादि रूप नहीं परिणमता। शुद्ध से तात्पर्य 'केवल' का है। ज्ञानी का यह अर्थ नहीं लेना कि चौथे गुणस्थान से सम्यग्ज्ञानी सो नही। स्वय का अर्थ केवल आत्मा है जो अकेला एक।

एक परमाणु मे बंध नहीं होता। एक आत्मा में स्वयं रागादिरूप परिणमन नहीं होता। **रागादिभिः स्वयं न**

परिणमते । स्वयं रागादिपरिणमन को प्राप्त नहीं होता। अर्थात **रागादिकर्मभिः संबंधमंतरा न स्वयं परिणमते।** रागादि कर्म के संबंध के विना स्वयं केवल अकेला नहीं परिणमता। परिणमता स्वयं है परन्तु **रागादिसंबंधमंतरा न परिणमते** । उसी का श्रीअमृतचन्द्र स्वामी अर्थ करते हैं:—

'न खलु केवलः स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभि स्वय न परिणमते।"

केवल स्फटिक, केवल माने अकेला शुद्ध पदार्थान्तर के सम्बन्ध के विना **परिणामस्वभावे सत्यपि** परिणमनशील है, परिणाम स्वभाव है। परन्तु **स्वस्य** माने केवल का **शुद्ध-स्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात्** रागादिनिमित्तत्व का अभाव होने से **रागादिभिः स्वयं न परिणमते** स्फटिक उपल रागादि करके स्वय नहीं परिणमता। अर्थात् **जपा पुष्पसंबंधमंतरेण** जपापुष्प के संबध के विना केवल नहीं परिणमता। जपापुष्प के सबध से स्वय स्फटिकोपलवत् तुम्हारे रागादि भी परिणमते हैं। **परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावपरिणामतया** परद्रव्य जपापुष्पादि, उनका स्वयं रागादि परिणमन स्वभाव है। **स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, स्वस्य**= स्फटिकोपल को रागादिक का निमित्तभूत होने पर **शुद्ध-स्वभावत्वेन प्रच्यवमान** एव शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुवा ही **रागादिभिः परिणम्यते** स्फटिकोपल रागादिरूप परिणम जाता है। यह तो दृष्टान्त हुआ।

अब दार्ष्टान्त कहते हैं:— यथा स्फटिकोपल जपापुष्प सबध से रागादि रूप परिणमता है, **एवं किल आत्मा**

परिणाम स्वभावत्वे सत्यपि यथा स्फटिकोपल परिणाम स्वभाव होने पर भी **जपापुष्पमतरेण** रागादिरूप नहीं परिणमता। तथा केवल आत्मा शुद्ध परिणामस्वभाव होने पर भी **स्वस्य** शुद्धस्वभाव होने पर भी **स्वयं परद्रव्य-निरपेक्षतया = रागादिकर्मनिरपेक्षतया** स्वय अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता। **परद्रव्येणैव स्वयं रागादि-भावपरिणामतया** परद्रव्य जो है—स्वयं रागादिभाव परिणमन होने से **स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन** स्वय को रागादि-निमित्तभूत होने पर शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुवा **रागा-दिभिः परिणम्यते** रागद्वेषादिरूप परिणमन को प्राप्त हो जाता है। इति वस्तुस्वभावः। इस सब का निचोड श्री अमृतचद्र स्वामी एक श्लोक में कहते हैं :—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांतः
तस्मिन्निमित्तं परसग एव वस्तुस्वभावोयमुदेति तावत्

आत्मा **जातु** माने कदाचित् भी अपने आप रागादिक का निमित्त होकर परिणमन को प्राप्त हो जाय सो बात नहीं है। यथा **अर्ककान्तः** = सूर्यकान्तमणि **सूर्यकिरणसम्बन्ध-मंतरेण** स्वय अपने आप अग्निरूप परिणमन को नहीं प्राप्त होता है। **सूर्यकिरणसंबंधं प्राप्तः** सूर्यकिरण के सम्बन्ध को पाकर के अग्निरूप परिणम जाता है। इस तरह से आत्मा स्वयं केवल अकेला **परसंबंधमन्तरेण** रागादिक रूप स्वयं नहीं परिणमता। **किन्तु तस्मिन्निमित्तं परसंग एव** उसके परिणमन

में निमित्त परसंग ही है। उसके निमित्त को पाकर के आत्मा रागादि रूप परिणम जाता है।

यह वस्तुस्वभावः उदेति यह वस्तु का स्वभाव है। इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को जानते हैं, वो ज्ञानी हैं, वे अपनी आत्मा को रागादिक नहीं करके कारक नहीं होते। और जो ज्ञानी नहीं हैं, वे कारक होते हैं। इसका तो यही तात्पर्य्य है।

संसार के अन्दर पदार्थ दो हैं, जीव और अजीव। अजीव पदार्थ के पाँच भेद हैं, उसमें पुद्गल को छोड़ करके शेष चार जो अजीव हैं, वे शुद्ध ही शुद्ध रहते हैं। दो जो पदार्थ है, जीव और पुद्गल। इन पदार्थों में दोनों प्रकार का परिणमन होता है। इनमे विभावशक्ति भी है। इन दोनों पदार्थों में और अनन्त शक्तियाँ भी हैं।

वह विभाव शक्ति यदि न होती तो एक चाल ही होती। विभावशक्ति ही एक ऐसी चीज है कि जिसके द्वारा आत्मा में परिणमन होता है। परपदार्थ का सम्बन्ध रहता है। पदार्थ पदाथ का सम्बन्ध आज का नहीं है। अनादि काल का है। अनादि काल का सम्बन्ध होने से आत्मा का वह रागादिक रूप, द्वेषादिक रूप, क्रोध रूप, मान रूप, माया रूप, लोभादिक रूप जितना भी परिणमन है, आत्मा का स्वभाव नहीं है। विभावशक्ति का है। विभावशक्ति आत्मा के अन्दर है। सो ऐसी परिणम जाय, परका निमित्त मिले तो उस रूप परिणम जाय।

इस वास्ते हम सब को उचित है कि निमित्त कारणों को उतना ही आदर देवें जितना कि आदर देने की जरूरत है। उपादान कारण को उतना ही आदर देवें जितनी कि जरूरत है। उसको अधिक मानो या इसको अधिक मानो, यह तत्त्व

नहीं है। दोनों अपने अपने में स्वतंत्र हैं। उपादान भी स्वतंत्र है, वह कहे कि मैं निमित्त बिना परिणम जाऊ, तो कोई ताकत नहीं। केवल उपादान की ताकत नहीं है कि निमित्त न मिले और वह परिणम जाय। सो परिणमेगा तो वो ही परन्तु निमित्त को पाकर के परिणमेगा। जैसे कुम्भकार घट का बनाता है। सब कोई जानता है कि कुम्भकार घट को बनाता है। अगर कुम्भकार नहीं होय तो घटपरिणाम के सम्मुख भी परन्तु कुम्भकारमन्तरेण कुम्भकार के बिना नहीं परिणम सकता। कुम्भकारादि निमित्त हो और बालू का पुंज लगा हो तो घट का परिणमन हो जाय सो भी नहीं है।

इस वास्ते उपादान और निमित्त दोनों अपने अपने मे बराबर की चीजे हैं। कोई न्यूनाधिक उसमे मान सो नहीं है। उसका कार्य उसमे होता है। इसका कार्य इसमे होता है। व्याप्य व्यापक भाव जो है, उपादान क अपनी पर्याय के साथ होता है। निमित्त की पर्यायो के साथ नहीं होता है। परन्तु एसा नहीं है कि उसका कुछ भी सबध न हो।

यथाः— अन्तर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया घटे क्रिय माणे मृत्तिका के द्वारा घट बनता है। अन्तर्भाव्यभावक भावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने और मृत्तिका ही अनुभवन करत है। और मृत्तिका मे ही उसका तादात्म्यसम्बन्ध है परन्तु बाह्य व्याप्यव्यापकभाव कुछ नहीं है सो बात नह है। बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन घट के अनुकूल व्यापार कुम्भ कार करेगा तो घट होगा। तो व्यापारं कुर्वाणः कुम्भका जो है. वो घट को बनाने वाला है। और घट से जो तृ

हुई, जलादिक आकर जो तृप्ति हुई, उसको अनुभवन करने वाला कौन है ? कुम्भकार। अगर निमित्त नैमित्तिक सबध न होवे तो तुम्हारे यहाँ मृत्तिका मे घट नहीं बन सकता। बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन उसके साथ सम्बन्ध है ही। अगर बहिर्व्याप्यव्यापकभाव अस्वीकार करे तो घटोत्पत्ति नही हो सकती।

इसी तरह से आत्मा में ज्ञानावरणादिक जो कर्म है, सो पुद्‌गल द्रव्य स्वय ज्ञानावरणादिक कर्म रूप परिणमते हैं और आत्मा के मोहादिक परिणामों के निमित्त को पाकर के परिणमते हैं। अगर मोहादिक परिणाम निमित्त रूप में न हों तो कभी भी तुम्हारे ज्ञानावरणादिक रूप पर्याय को प्राप्त नही होवे। इस वास्ते निमित्त कारण की भी आवश्यकता है। उपादान कारण की भी आवश्यकता है।

प्रश्न—श्री प० रतनचद्र जी मुख्तार सहारनपुर वाले का।

ज्ञान मे जो कमी हुई, जीव का स्वभाव तो केवल ज्ञान है और वर्त्तमान मे जो हमारी ससारी अवस्था में जितने भी जीव हैं, उनके ज्ञान मे जो कमी हुई, वह क्या कर्म के उदय की वजह से कमी हुई या विना कर्म के उदय की वजह से कमी हुई ?

उत्तर—इसमें दोनों कारण हैं। कर्म का उदय निमित्त कारण है और उपादान कारण आत्मा है। कर्म का उदय यदि न होगा तो कभी भी न्यूनाधिक परिणमन को प्राप्त नहीं होगा। विभाव और बात है। यह तो ज्ञानावरणादिक कर्म का इस प्रकार का क्षयोपशम है, उसके तरतमभाव से आत्मा का हीनाधिक विकास होता है। जितना ज्ञानावरणादिक कर्मका उदय होगा, उतना ही अज्ञान रहेगा। जितना

ज्ञानावरणादिक कर्मका क्षयोपशम होगा, उतना ज्ञान रहेगा।

प्रश्न—श्री ब्र. रतनचंद्र जी मुख्तार सहारनपुर वाले का।

श्री कानजी स्वामी यह कहते हैं कि महाराज! ज्ञानावरणादिक कर्म कुछ नहीं करते। अपनी योग्यता से ही ज्ञानमें कमी वेशी होता है। महाराज! ज्ञानमें कमी होती है, वह अपने वजह से होती है, अपनी योग्यता से होती है। श्री कानजी स्वामी यह कहते हैं कि ज्ञानावरणादिक कर्म कुछ नहीं करते, तो महाराज! क्या यह ठीक है?

उत्तर (पूज्यश्रीवर्णीजीद्वारा) क्या यह ठीक है? आपही समझो, कैसे ठीक है? यह ठीक नहीं है। कोई भी कहे, चाहे, हम तो कहते हैं कि अंगधारी भी कहे तो भी ठीक नहीं है।

प्रश्न—ब्र श्री सुरेन्द्रनाथजी का महाराज! सम्यग्दृष्टि के पूजन, दान, व्रतादिक के आचरण ये मोक्ष के कारण हैं या नहीं?

उत्तर—(श्री पूज्य वर्णीजी द्वारा) मेरी तो यह श्रद्धा है कि सम्यग्दृष्टि के चाहे शुभोपयोग हो चाहे अशुभोपयोग हो, केवल नहीं होता है, उसमें शुद्धोपयोग का अंश अनन्तानुबन्धी कषाय जाने से प्रकट हो जाता है। जहाँ शुद्धोपयोग का अंश प्रगट हुवा, तहाँ पूर्ण शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है, तो अल्प शुद्धोपयोग भी मोक्ष का कारण है। अर्थात् कारणता तो उसमें आ गई, पूर्णता आवो या न आवो। प्रवचनसार में श्रीअमृतचंद्रस्वामी ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्र जब पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तब वीतरागता सहित सम्यग्दर्शन, ज्ञान वीतराग चारित्र सहित मोक्ष के ही मार्ग हैं। अतएव सराग अर्थात् इनके अंशमें जो राग मिलो है, सो वो राग बंधको कारण है।

इस वास्ते जो राग है तथा सम्यग्दृष्टि का जो उपयोग है अर्थात् जितना शुभोपयोग है, वह बंधका कारण है। और जो शुद्धोपयोग है वह निर्जरा और मोक्षका कारण है। सम्यग्यदृष्टि का शुभोपयोग सर्वथा ही बधका कारण हो, सो बात नहीं है।

प्रश्न—श्री ब्र० रतनचंद्र जी मुख्तार सहारनपुर वाले का।

महाराज! जिसे मोक्षमार्ग रुचता है, उसे जिनेन्द्रदेव की भक्ति रुचती है या नहीं?

उत्तर—(श्रीपूज्यवर्णीजी) मेरा तो विश्वास है कि जिस को मोक्ष मार्ग रुचता उसको जिनेन्द्रदेव की भक्ति तो दूर रही। सम्यग्दृष्टी की जो बातें हैं, वे सब उसको रुचती हैं।

श्री उमास्वामी आचार्य मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुवे मंगलाचरण करते हैं:—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

विश्वतत्वानां ज्ञातार अहं वन्दे। काहे के लिये—तद्गुणलब्धये, उन गुणों की लब्धि के लिये। तो उनमें जो भक्ति हुई अर्थात् भगवान् की जो भक्ति हुई, स्तवन हुवा, सोही भक्ति स्तवन वगैरह का वर्णन किया है। स्तुति क्या चीज है?

गुणस्तोक सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः॥ श्री समंतभद्रस्वामी ने लिखा है कि स्तुति वह कहलाती कि थोड़े गुण को उल्लंघन करके उसकी बहुत कथा करना।

भगवान के अनन्त गुण हैं, वक्तुं अशक्यत्वात्, उनके कथन को करने में अशक्त हैं, तो भी जैसे कोई अमृत के समुद्र का अंतस्तल स्पर्श करने में असमर्थ हैं। अगर उसका स्पर्श

भी हो जाय तो शांति का कारण है। तो भगवान् के गुणों का वर्णन करना दूर रहा उसका स्मरण भी हो जाय तो हमको ससार विच्छित्ति का कारण है। इस वास्ते भगवान् का जो स्तवन है, वह गुणों मे अनुराग है। गुणों का अनुराग है उसी का नाम भक्ति है।

गुणों मे अनुराग कौन सी कषाय को पोषण करने वाला है। जिस समय भगवान् की भक्ति करोगे, अनन्त ज्ञानादिक गुणों का स्मरण ही तो होगा। अनन्तज्ञानादिक गुणों के स्मरण होने में कौन सी कषाय की पुष्टि हुई। क्या क्रोध पुष्ट हुवा या मान पुष्ट हुवा या माया की पुष्टि हुई या लोभ पुष्ट हुवा। तो मेरा तो यह विश्वास है कि उन गुणो का स्मरण करने से नियम से अरहत को द्रव्य गुण पर्याय करके जो जानता है। वो परोक्ष मे अरहत हैं, वह साक्षात् अरहत ह।

वह परोक्ष मे वहो गुण तो स्मरण कर रहा है। अतः भगवान् की भक्ति तो सम्यग्ज्ञानी ही कर सकते हैं, मिथ्या-दृष्टि नहीं। परन्तु कब तक ? सोही :—

पचास्तिकाय में कहा है कि भगवान की भक्ति मिथ्यादृष्टि भी करता है और सम्यग्दृष्टि भी करता है। परन्तु यह सम्यग-दृष्टि उपरितन गुणस्थान चढने को असमर्थ है तथा अस्थान जो कुदेवादिक उनमे रागादिक न जाय अथवा तीव्र राग उधर मेरा चला जाय। अतः वह भगवान् की भक्ति करता है। जो श्रेणी माडते हैं। उनको तो वस्तुविचार रहता है। उनकी तो आत्मा की तरफ दृष्टि है, न जाने घटकी न पटकी। कोई पदार्थ चिन्तवन में आ जावो, वह विषका जो बीज राग-द्वेष था, वह तो उनका चला गया। हमारा विषका बीज राग-द्वेष बैठा है। इस वास्ते भगवान् की भक्ति, उनमें उनके गुणों

का चिन्तवन करने से रागद्वेष की निवृत्ति होती है। अतएव सम्यग्दृष्टि को भगवान् की भक्ति करनी चाहिये।

मिथ्यात्व का अश ही बुरा होता है। अरे हमारी बात रह जाय, वह बात काहे की है। जब पर्याय ही चली जाय, जिस पर्याय मे अहबुद्धि है, तब बात काहे की है। तुम्हारा यह पर्याय सबधी ज्ञान, यह पर्याय संबधी चरित्र यह पर्याय सबधी सुन्दरता और आयु को अन्त। अरे सुन्दरता तो अब ही चला जाती है। द्रव्य से विचार करो, वह रखलेवे। अब ये जवान है। रखलेवे कि हम ऐसे ही बने रहे, नहीं रख सकते। क्यो? वह तो उदय मे आकर खिर ही जायगी। इस वास्ते बात तो हम अभी भी यह कहते हैं कि सबके स्थितिकरण का आवश्यकता है।

इस वास्ते हम तो कहते हैं कि स्थितिकरण सब से वढ़िया है, और आप लोग सब जानते है हम क्या कहे। एक बात हो जाती तो सब हो जाता। निमित्तकारण को निमित्त मान लेते तो सब हो जाता। शान्ति हो जाय।

इस प्रवचन मे निमित्त नैमित्तक सवध तथा उपादान में निमित्त की सहायता और शुभोपयोग भी मोक्ष का साधन है इत्यादि श्रीकानजी स्वामी की विचारधारा के विषय मे अच्छा तरह खुलाशा किया गया है। पाठकों से निवेदन है कि इस प्रवचन को ध्यानपूवक पढे तथा श्रद्धा दृढ बना कर लाभ उठावे। यह प्रवचन खुलाशा कर दिया है अतः समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१०	शुर्द्ध	शुद्ध
२	१४	रत्तादियेद्वि	रत्तादीहिं
३	१९	कारण का	का कारण
५	६	वीत्तरागता	वीतरागता
७	१५	रेखें	देखें
९	११	आम्त्रव	आस्रव
९	१८	ज्ञान	ज्ञाता
१०	११	परिणभ	परिणाम
११	५	उपयुर्क्त	उपर्युक्त
१२	७	टकोर्कीर्ण	टकोत्कीर्ण
१४	१३	प्रकतयः	प्रकृतयः
१४	२१	वर्णाद्	वरणाद्
१५	२	वारण	वरण
१५	१६	यिथ्पात्व	मिथ्यात्व
१५	२०	तीव	तीव्र
१६	३	सहस्त्री	सहस्री
२०	२०	द्रव्यकर्म का	द्रव्यकर्म को
२१	१	कम	कर्म
२२	५	स्यामनो	स्यात्मनो
२२	१६	रेतु	हेतु
२२	१९	द्व्य	द्रव्य
२३	१	शुद्धाय	शुद्धात्म
२४	१८	आत्माख्याति	आत्मख्याति
३२	१५	कर्मों की	कर्मों को

३३	१५	निनित्तत्व	निमित्तत्व
३४	१३	समग्री	सामग्री
३४	१५	कार्य	कर्म
३७	१८	राकादिकाग	रागादिका
३८	३	अत्मा	आत्मा
३८	१७	बध	बंध
३८	१८	जीवस्य	जीवस्स
३९	१	दृशैव	दृशैव
४०	१५	शीतोरूष्णपेनै	शीतोष्णरूपेणै
४१	२०	समिध्द	समिद्ध
४१	२०	दह्य	दाह्य
४२	६	णयन	णमन
४२	१४	रुग्दीतः	रुद्गातः
४५	१	शास्त्र	शास्त्र
४८	७	पुग्दल	पुद्गल
५०	४	कापसि	कापसि
५०	२४	गलिकर्म	गलिकर्म
५४	१२	अतमा	आत्मा
५४	१३	बद्धस्पष्ट	बद्धस्पृष्ट
५४	१५	बद्धस्पष्ट	बद्धस्पृष्ट
५७	१	भावाणा	भावाणं
५७	२	अप्षाण	अप्पाण
५७	३	पुण्णो	पुणो
५७	३	अत्ताणां	अत्ताण
५७	६	कधन	कथन
५७	७	कथम	कथन
५७	८	बद्धस्पष्ट	बद्धस्पृष्ट
५७	९	ह्रिया	क्रिय

५९	१७	वभिन्न	विभिन्न
६०	३	क्यों प्यारा	क्यों हेरत प्यारा
६०	२०	कमेन्द्रिया	कर्मोदयान
६१	१९	अत्मा	आत्मा
६३	१	कर्मेन्द्रिया	कर्मोदया
६३	७	पारणादिक	पारणामिक
६३	२०	नूलक्षन	तल्लक्षण
६४	३	पर्याप	पर्याय
६४	१२	यथायोग	यथायोग्य
६४	२२	किंचण	किंचूणा
६६	५	निश्चयन	निश्चयनय
६६	२१	सामर्ग्री	सामग्री
६६	२१	शिवश्लेषिता	विश्लेषिता
६७	८	अधार	आधार
६७	११	आत्मा मे भा	आत्मा में भी
६७	१९	बाधऐ	बाधाऐं
६९	१७	केचिदव्य	कचिद्द्रव्ये
७०	१९	निश्चित	निश्चय
७१	१८	अहार	आहार
७२	२०	भवत्वेक	भवत्येक
७४	२०	मिमित्त	निमित्त
७४	२६	यितो	यतो
७५	१६	करण	कारण
७७	९	चिह्नित	चिह्नित
७९	१९	ससर्थ	समर्थ
७९	२६	व्यहार	व्यवहार
८०	४	देसिदो	देसिदा
८४	४	मेद्दिरा	मेद्दिदा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८२	२२	शिष्टामिष्टं	शिष्टमिष्टं
८४	५	रूप से निश्चय	रूप सो निश्चय
८९	९	आश्रय	आश्रय
९२	१८	मुनिणो	मुणिणो
९३	२	पराश्रित	पराश्रित
९४	१९	संदेहावस्था	सदेहावस्था
९५	४	स्वानुभूत	स्वानुभूति
९५	१८	करेना	करेगा
९७	२	सहस्त्री	सहस्री
१०२	७	जानता	जानना
१०२	१६	व्यविचार	व्यभिचार
१०३	२	कैसे, भी	कैसे भी
१०३	२०	परिगमन	परिणमन
१०४	११-१२	निश्वय	निश्चय
१०५	४	शुभ हा	शुभ हों
१०५	१६	सामग्री षर	सामग्री पर
१०६	६	आस्त्रव	आस्रव
१०७	१	(स्यामित्व)	(स्वामित्व)
१०७	१	ये शुभ ही	ये अशुभ ही
१०७	२२	विषाकसभ्द्राव.	विपाकसद्भावाः
१०८	१३	बंधयेष्यस्पपरथा	बंधमेष्यपरथा

१०६	१६	कारणानुयोग	करणानुयोग
१११	१६	पोग्ता	योग्यता
११२	४	धरत्थाणं	घरत्थाणं
११२	२०	प्रवर्त्तमाम	प्रवर्त्तमान
११३	१४	माग	मार्ग
११५	६	चैवैतन्य	चैतन्य
११५	१०	क्षणिक	क्षणिक
११५	१२	भेदोऽत्व	भेदोऽस्त्व
११५	३४	निपुणैर्भेत्तु	निपुणैर्भेत्तुं
११७	१७	विपर्पयस्त	विपर्यस्त
१२५	१२	अदता	अदया
१२५	२४	तापत	तावत
१२८	२० २४	पिज्जन	पिञ्जन
१२६	२२	प्रकृति	प्रवृत्ति
१३०	१७	सेवह	सेवइ
१३०	२२	आदि का के	आदि की

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल नं० 232 शिखर

लेखक जैन शिखरचन्द्र

शीर्षक समाधानचन्द्रिका।

खण्ड ______ क्रम संख्या 4000